वैदिक काल का इतिहास

पण्डित आर्य्यमुनि जी

संवत् १९८२

सन् 1925 ई.

ओ३म्

वैदिककाल का इतिहास

जिसको

श्रीमान् पण्डित आर्य्यमुनिजी ने

निर्माण किया

और

श्री देवजीदयालजी मैनेजिंग प्रोप्राइटर्स

प्योर झरिया कोलियरी झरिया की

सहायता द्वारा

पं० देवदत्तशर्मा

कर्णवास-ज़िला-बुलन्दशहर निवासी

ने

बी० एल० पावगी के हितचिन्तक यन्त्रालय

रामघाट-काशी में मुद्रित कराके

प्रकाशित किया

सं० १९८२ सन् १९२५ ई०

प्रथमवार १०००] [मूल्य [illegible]

प्रस्तावना

यह सर्वसम्मत है कि प्रथमयुग = प्राचीनकाल में यह देश सब देशों से बढ़ चढ़कर था अर्थात् ऋषि मुनि तथा महात्माओं से अलंकृत, एकता के सूत्र से संगठित, वेदादि सच्छास्त्र, धनुर्विद्या तथा कलाकौशलादि से जटित, धन बल पौरुषादि से भूषित और सत्यता तथा धार्मिकतादि अनेक गुणों के कारण शोभायमान तथा सभ्यता की कान था, सब देश देशान्तरों के विद्याभिलाषी पुरुष यहां आकर विद्याध्ययन करते और यहां से सुशिक्षित होकर अपने २ देश में विद्याप्रचार करते थे, जैसाकि मनुजी महाराज ने लिखा है कि :-

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मना ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरन पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

इस देश के जन्मे हुए द्विजों से दुनियां भर के सब मानव अपने २ चरित्र = विद्याओं को सीखें, उस समय देश में ऐक्यमत प्रचलित था, सम्पूर्ण नरनारी एक वैदिकमतानुयायी थे और प्रत्येक भारतवासी एक दूसरे का का मित्र था, उस समय इस वैदिक आज्ञा का पूर्णतया पालन कियजाता था कि

" मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् "

हे मनुष्यो ! तुम प्राणीमात्र को मित्रता की दृष्टि से देखो, इस ईश्वरीय आज्ञा का पालन करते हुए भाई को भाई मित्रता की दृष्टि से देखता था, पिता पुत्र, स्त्री पुरुष, सब वर्ण और मनुष्यमात्र में अगाध प्रेम होने के कारण यह देश समृद्धि को प्राप्त था जैसाकि लोकोक्ति भी है कि:-

जहां सुमति तहं सम्पति नाना ।
जहां कुमति तहं विपति निदाना ॥

जहां शुभमति = प्रेम = मित्रता है वहां लक्ष्मी रहती ॥
का ऐश्वर्य्य वास करता है और जहां कुमति = कलह, लड़

होता है वहां विपद् के सिवाय किसी प्रकार का सुख नहीं होता और न वहां लक्ष्मी वास करती है ॥

प्रथमयुग में मनुष्यजाति में कोई मनुष्य ऐसा न था जिसको घृणा की दृष्टि से देखा जाता था अथवा आज कल की न्यांई "अछूत" समझ कर अपने भाई से घृणा कीजाती थी, उस समय छुआ छूत अथवा अपने भाई को घृणास्पद मानना पाप समझा जाता था, उस समय सब उत्सवों में, भोजन काल में और धार्मिक तथा लौकिक उन्नति विचार में सब साथ बैठते थे, और उन्नत होने के लिये परमात्मा की इस आज्ञा का सब पालन करते थे, जैसाकि ऋग्वेद में वर्णन किया है कि: —

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथा पूर्वे संजा नाना उपासते ॥

ऋग्० ८।८।४९

हे मनुष्यो ! तुम सब मिलकर = एक दूसरे को प्राप्त होकर बैठो, सब मिलकर परस्पर एक दूसरे की उन्नति सोचो, जो तुम्हारे मन में हो वही बाहर प्रकाशित करो, यथा पूर्वे = जैसे पूर्व = प्राचीन काल के शम दमादि साधनसम्पन्न देवा = विद्वान् अपने कार्यों को विधिवत् करके उन्नत होते थे उसी प्रकार तुम भी होओ ॥

उन्नत होने के लिये यह प्राचीन मर्यादा थी अर्थात् मनुष्यमात्र सब एकत्रित होकर सभाद्वारा अपनी २ उन्नति का विचार करते थे, उस समय कोई मनुष्य ऐसा न था जो सभा से बहिष्कृत किये जाने योग्य हो, जब हम इस प्रथा पर आरूढ़ होकर चलरहे थे उस समय सब प्रकार का ऐश्वर्य्य भोग करते हुए सुखसम्पन्न थे, धन, धान्य तथा लक्ष्मी का यहां वास था, उस समय सब विद्वान् विचारपूर्वक कला कौशल तथा अस्त्र शस्त्र निर्माण करते थे जिनके द्वारा दुष्टों का संहार करके नानाविध पदार्थ तथा धन भारत की ओर खिंचा चला आता था, वाणिज्य में प्रत्येक पुरुष उन्नति करता था, अधिक क्या उस समय एकता के सूत्र में बंधे हुए अपनी २ विद्या में कुशल भारतवासी आनन्दोपभोग करते थे ॥

उस समय की सभाओं में वेद भगवान् को सन्मुख रखा जाता था

और वेदवेत्ता द्विज उसमें से नाना प्रकार की विद्या = कलायन्त्र तथा अस्त्र शस्त्र आदि निकालकर साधारण पुरुषों को कर्तव्यशाली बनाते और देश को सुरक्षित रखते थे, जैसाकि:—

"वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः
सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः" ऋग्० ५।५७।२

इस मन्त्र में तलवार, धनुष, निषङ्ग = नलिका अर्थात् तोप तथा बन्दूक का वर्णन है, यही नहीं इस सम्पूर्ण ५७वें सूक्त में अस्त्र शस्त्रों के निर्माण तथा प्रयोग करने का वर्णन स्पष्ट है, और ऋग्वेद के अन्य अनेक स्थलों में कला यन्त्र तथा अस्त्र शस्त्रों के निर्माण करने और उन को उपयोग में लाने की विद्या भरी पड़ी है जिसका विचारपूर्वक स्वाध्याय न करने से अल्पश्रुत लोगों को आश्चर्य प्रतीत होता है, ऋग्वेद में "निषङ्ग" को नलिका, नालीक, नाल तथा सूर्मी नामों से वर्णन किया है और इस शस्त्र के विषय में यह लिखा है कि इसके भीतर छिद्र होता है और छिद्र के बाहर जो निकलता है वह जलती हुई अग्नि होती है, आर्य्य लोग असुर, धूर्त्त तथा आततायियों पर इससे प्रहार करते थे, इस शस्त्रविषयक वेद में यह लिखा है कि इससे एक ही आघात में सौ मनुष्यों का हनन होसकता है, जैसाकि "सूर्मी देवा असुराणां शततर्हास्तृहन्ति" इत्यादि वाक्यों में वर्णन है, ऋग्वेद में सेना, सेनापति, धनुष, बाण, अस्त्र, शस्त्र तथा यानादि अनेकविध संग्राम सामग्री का वर्णन है, जिससे ज्ञात होता है कि प्रथमयुग में आर्य्यगण युद्ध करने में भलेप्रकार कुशल थे, यद्यपि उस काल में आर्य्य पुरुष स्वाध्याय, यज्ञ, हवन, जप, तप तथा अनेक प्रकार का अनुष्ठान करते हुए परमात्मपरायण होने का यत्न करते थे परन्तु संग्राम उपस्थित होने पर युद्ध करने के लिये भी सदा कटिबद्ध रहते थे, जिस का वेदों के स्वाध्याय से पूर्णतया अनुभव होता है, आर्य्य लोग "वाणिज्य" में कितने कुशल थे इसका पूर्ण ज्ञान भी शा ों के अध्ययन से ही होता है॥

जब हम प्रथमयुग से नीचे उतरकर रामायण तथा महाभारत के काल पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि इस काल में धनुर्विद्या विशेषतया उन्नति के शिखर पर पहुंच चुकी थी, एकाकी राम का एक ही दिन के

युद्ध में चौदहहज़ार राक्षसों को हनन करना साधारण बात न थी जो राक्षस बड़े लड़ाके थे और उनके सेनापति खर, दूषण तथा त्रिशिरा, युद्ध में कुशल तथा अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करने में निपुण थे परन्तु राम ने विश्वामित्र, अगस्त्यमुनि तथा इन्द्रादि धनुर्विद्या वेत्ता विद्वानों से भले-प्रकार शिक्षा प्राप्त की थी, राम का पंचवटी तथा लंका में युद्ध करते समय जो अस्त्र शस्त्रों का वर्णन है उनमें अनेक ऐसे अस्त्र शस्त्रों के नाम आये हैं जिनका इस समय पता चलना कठिन प्रतीत होता है, धनुर्विद्या विषयक ग्रन्थों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि मुसलमानों के समय में अथवा उनसे आगे पीछे जो हमारे पुस्तकालय नष्ट भ्रष्ट किये गये उनमें धनुर्विद्या का बहुतसा संग्रह प्रायः नष्ट होचुका है ॥

उक्त भावों को प्रकट करने का तात्पर्य यह है कि जब हम सब प्रकार की विद्याओं में कुशल, उच्च शिखर पर थे उस समय शुद्ध हृदय से परस्पर एक दूससरे का शुभचिन्तन करते थे, अपने भाई से घृणा करने का भाव हमारे हृदय में किंचिन्मात्र न था, और न उस समय की सभाओं का उद्देश्य किसी को गिराना और किसी को उठाना था प्रत्युत प्रत्येक को उच्च शिखर पर लेजाना मुख्य उद्देश्य था ॥

जब हम इस समय की सभा समाजों पर दृष्टि डालते हैं तो प्राचीन काल की सभाओं से बड़ा अन्तर पाते हैं, वास्तव में हमारी सभा समाजों की ऐसी हीनदशा होरही है कि बड़ी २ सभायें होतीं, वक्ता लोग बड़े २ व्याख्यान अपना सारा बल लगाकर देते परन्तु वक्ता तथा श्रोताओं का मन, वच, कर्म एक न होने से हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं हो-सकते, वक्ता जिस विषय को कहता है उस विषय का जबतक पूर्ण अनुष्ठानी न हो तबतक उसके कथन का पबलिक पर कोई प्रभाव नहीं पड़सकता, प्राचीनकाल में अनुष्ठान सम्पन्न पुरुष ही वक्ता होते थे अल्पश्रुत नहीं, और जिस विषय का वह उपपादन करते थे उनके मुख से निकले हुए वाक्य पबलिक के हृदय में अंकित होजाते थे, और यह अनुभवसिद्ध भी है कि जो जिस मार्ग पर नहीं चला वह दूसरे को क्या बतलासकता है, वास्तव में हमारा मन और आत्मा पवित्र न होने के कारण न हम अपने श्रेय का विचार करसकते और नाही अपने भाइयों को कल्याण का मार्ग

बतासकते हैं, यही कारण है कि आज भारतवर्ष में इतनी सभा समाजों तथा व्याख्यान दाताओं के होने पर भी हम अपने भाइयों का कष्ट निवारण करने में सर्वथा असमर्थ हैं, जब तक हम शुद्ध हृदय से परस्पर एक दूसरे से नहीं मिलते, या यों कहो कि जब तक उपरोक्त मन्त्र में वर्णित परमात्मा की आज्ञा का पालन नहीं करते तबतक हम अपने कल्याण का मुख नहीं देखसकते, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥

इसी भाव को ऋग्० ६ । २८ । ६ में विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए यह लिखा है कि "बृहद्वो वय उच्यते सभासु" = हम बड़ी २ विराट सभाओं में सम्मिलित होकर अपने उन्नत होने के लिये विचार करें अर्थात् हमारे भद्रगृह हों जो मिट्टी के न हों किन्तु बहुमूल्य पत्थर आदि से सुसज्जित हों, पुष्कल धन धान्य हो, पुष्ट गौयें दूध स्रवितमय हों, हम नित्य यज्ञादि कर्म करते हुए सभ्यतापूर्ण मीठी वाणी से भाषण करने वाले मितभाषी हों कटुभाषी कदापि न हों, परस्पर सब मिलकर ऐश्वर्य्यसम्पन्न होने का विचार करते हुए परमात्मा से प्रार्थना करें कि "सभ्यसभां नो पाहि ये च सभ्या सभासदः".

ऋग्० ७ । १३ । २

हेभगवन् ! आप हम लोगों की इस सभ्यसभा की रक्षा = पालन करें और जो इसमें सभ्यसभासद हैं उनकी भी रक्षा करें और हम लोग यज्ञों द्वारा अपने श्रेय = कल्याण की कामना करते हुए ऐश्वर्य्यशाली हों, अग्रिम मंत्र में मनुष्यों को उन्नतशील होने के लिये परमात्मा आज्ञा देते हैं कि :-

प्रति त्वा स्तोमैरीलते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः ।
गवांनेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व ॥

ऋग्० ७ । ७६ । ६

हे सौभाग्य की कामना वालो ! तुम "उषाकाल" में जागो और स्तोमैः = यज्ञ द्वारा अपने ऐश्वर्य्यवृद्धि की मेरे प्रति स्तुति प्रार्थना करो, यह उषाकाल इन्द्रियों को संयम में रखने के कारण स्तुति योग्य है अर्थात् उषाकाल में जागने वाला पुरुष इन्द्रियसंयमी होने के कारण बलवान् होता और

परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त रहता है, यही उषाकाल अन्नादि ऐश्वर्य्य का स्वामी अर्थात् इसके सेवन करने वाला विविध प्रकार के ऐश्वर्य्य तथा उत्तम संतान को प्राप्त होता और इसी के सेवन से पुरुष नीरोग रहकर दीर्घायु वाला होता है, इस भाव को मनुजी महाराज ने भी धर्मशास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

मनु० ४ । ९२

प्रत्येक पुरुष को उचित है कि वह ब्राह्ममुहूर्त्त = उषाकाल = रात्रि के चौथे पहर अर्थात् दो घड़ी रात रहने पर उठे और उठकर धर्म तथा अर्थ = ऐश्वर्य्य को प्राप्त होने का चिन्तन करे, शरीर को सर्वथा नीरोग रखने का विचार करे अर्थात् ब्रह्मचर्य्य के नियमों का पालन, व्यायाम करना तथा स्नान पान नियमपूर्वक करे, सदा मिताहारी हो, और सदैव स्वाध्याय करता हुआ प्रातः वेद के गूढ़ तत्त्वों का चिन्तन करे, इस प्रकार अनुष्ठान करने वाला पुरुष नीरोग रहता, दीर्घायु होता, ऐश्वर्य्य-शाली होकर सुख भोगता, अपने शत्रुओं पर विजयी होता और अभय रहता है ॥

यहां पर एक प्राचीन गाथा का लिखना अनुपयुक्त न होगा प्रत्युत शिक्षाप्रद होगा—जिस समय वीर हनुमान लंका में सीता की खोज करने गये तब वह वहां सायंकाल पहुंचे, रात्रिभर सब मुख्य२ स्थानों में सीता को खोजते रहे परन्तु कहीं पता न लगा, प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त काल में सड़क पर आकर रावण के महलों में जाने का विचार किया, सड़क पर चलते हुए हनुमान ने उस उषाकाल में द्विजों को स्वाध्याय करते हुए सुना और अग्निहोत्रादि यज्ञ करते देखा, उस समय उनके विचार में यह परिवर्तन हुआ कि जहां पर उषाकाल में जागकर स्वाध्याय तथा यज्ञादि कर्मों के करने वाले द्विजवर निवास करते हैं उस नगरी को विजय करना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है, यह विचार करते हुए जब रावण के महल के समीप पहुंचे तो मद्य मांस तथा व्यभिचार

का घमसान पाया, उस समय रावण को स्त्रियों में शयन करते देखा और उसके सब परिवार को लम्पट देखा, यह व्यवस्था देखते ही उनके विचार यों बदले कि वास्तव में रावण लम्पट है और यह तो जीवित ही मरा हुआ है, इसको युद्ध में विजय करना कौन बड़ी बात है, हनुमान विद्वान्, विचारवान्, दीर्घदृष्टि, स्वाध्यायी और शास्त्रों के पूर्ण पण्डित थे, उन्होंने तत्काल जान लिया कि सीता यहीं है और कालभगवान चाहते हैं कि इसका सर्वनाश हो, इसके पापों ने अब इसका अंतसमय समीप करदिया है—हमारे बहुत से भोले भाई यह कहा करते हैं कि हनुमान बन्दर था, शोक उनको इतनी समझ नहीं कि क्या बन्दर इतना दूरदर्शी और इतने गहर विचारों वाला होसकता है कदापि नहीं, जब राम प्रथम ही किष्किन्धा पर्वत के समीप हनुमान से मिले हैं तब वह वहां भाई लक्ष्मण से हनुमान के विषय में अपने विचार यों प्रकट करते हैं कि:—

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव कांक्षमाणस्य ममान्तिकमिहागतः ॥ २६ ॥
तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीव सचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिन्दमम् ॥ २७ ॥
नानृग्वेद विनीतस्य ना यजुर्वेद धारिणः ।
ना सामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥ २८ ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥ २९ ॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः कचित् ॥ ३० ॥

वाल्मी० कि० कां० द्वि० सर्ग

हे लक्ष्मण ! यह हनुमान कपिराज महात्मा सुग्रीव का मंत्री है और सुग्रीव से हमारी मैत्री कराने की इच्छा करता हुआ यहां आया है, हे सौमित्रे ! स्नेह से भरे हुए, शत्रुओं को दमन करने वाले तथा वाक्य के

जानने वाले सुग्रीव के इस मंत्री ने मधुर वाक्यों द्वारा ऐसा भाषण किया है कि न ऋग्वेद का शिक्षा पाया हुआ, न यजुर्वेद को धारण करने वाला और न सामवेद को जानने वाला ऐसा भाषण करसकता है, निःसन्देह इसने अनेक वार व्याकरण श्रवण किया है, क्योंकि बहुत देर से बातें करते हुए इसने कहीं भी अपभ्रंश नहीं बोला, और इसके बोलते समय मुख पर, नेत्रों में, ललाट पर, भ्रुवों और अन्य अंगों में भी कहीं दोष विदित नहीं होता है, इस प्रकार बातें करते हुए हनुमान के साथ चल दिये, इससे सिद्ध है कि वह विद्वान्, बलवान्, तेजस्वी और दीर्घदर्शी पुरुष था न कि लंबी पूंछवाला बन्दर था, हनुमान का उस समय का विचार वास्तव में ठीक था कि वेदानुकूल आचरण करने वाले अनुष्ठानी पुरुष का कालभगवान् के बिना अन्य कोई संहार नहीं करसकता ॥

भाव यह है कि उक्त मन्त्र में वर्णित शास्त्रविधि अनुसार जो अपने आचरण बनाते हैं वही ऐश्वर्य्यशाली होते और उन्हीं को सुख प्राप्त होता है, इसी भाव को कृष्णजी ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है किः—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

गी० १६ । २३

जो पुरुष शास्त्रविधि = वेद की आज्ञा को छोड़कर अपनी इच्छानुसार वर्तता = चलता है वह पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता न सुख को और न मुक्ति को प्राप्त होता है, अतएव मनुष्यमात्र का कर्तव्य है कि वेद की आज्ञा का पालन करते हुए चलें और " संगच्छध्वं सवदध्वं " परमात्मा की इस आज्ञा को मानते हुए कदापि भाई भाई से द्वेष न करें, न किसी का मन दुखाने की चेष्टा करें और नाहीं किसी को नीच अथवा अछूत कहकर अपने से पृथक् करें, यही प्राचीन मर्यादा, यही प्रथम युग के आर्य्यों का वर्ताव, यही वेद भगवान की आज्ञा और यही ऐश्वर्य्यशाली होने का एकमात्र उपाय है, इसी भाव को यजु० ३३ । १२ में इस प्रकार वर्णन किया है किः—

अग्ने शर्द्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
संजास्पत्यं सुयममाकृणुष्व शत्रूयतामभितिष्ठा महांसि॥

बड़े सौभाग्य = ऐश्वर्य्य को प्राप्त होने वाले विद्वान् पुरुषो! तुम दुष्ट भावों को त्यागकर उत्तम गुणों को प्राप्त होओ अर्थात् नित्य यज्ञादि कर्म करो जिससे श्रेष्ठ होकर धन यश तथा बल को प्राप्त होओ, आप लोग स्त्री पुरुष के भाव को सुन्दर नियमयुक्त, शास्त्रानुकूल, ब्रह्मचर्य्ययुक्त सम्यक् प्रकार वर्तो अर्थात् व्यभिचार * न करते हुए महातेजस्वी होकर ठहरो, या यों कहो कि बलवान् तथा विद्वान् होकर सब सांसारिक व्यवहारों को सिद्ध करते हुए ऐश्वर्य्यशाली होओ॥

और बात यह है कि जब हम वेद तथा आर्षग्रन्थों का मनन करते हुए प्रथमयुग = पुरातनकाल की उन्नति तथा इस आधुनिक समय की अवनति पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में यज्ञों द्वारा मनुष्य सुशिक्षित किये जाते थे, शूद्रादि छोटी श्रेणी के पुरुषों को भी यज्ञ में सम्मिलित कर दीक्षा देते थे, अधिक क्या वेद के सहस्रों मंत्र जगह जगह पर यज्ञ का कर्तव्य बड़े उदार भाव से वर्णन करते हुए मनुष्यमात्र को बड़ा होने का उपदेश करते हैं, जिनमें से कतिपय मंत्र इस ग्रन्थ में उद्धृत हैं, जैसाकि "देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्" ऋग० १०।९१।१५ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि प्रथमयुग के याज्ञिक पुरुष पशुत्वविशिष्ट अर्थात् मूर्ख तथा आचारभ्रष्ट पुरुष की काया पलटकर देवभाव को प्राप्त कराते थे, या यों कहो कि पशुस्वरूप मूर्खता का नाश करके उसको विद्वान् बनाते थे अर्थात् प्रथमयुग वह था जिसमें राक्षस तथा पिशाचों का भी कलेवर बदलकर देवता बनाया जाता था, उस समय के याज्ञिक आर्यों में यह शक्ति थी कि यज्ञ द्वारा प्रत्येक पुरुष को पवित्र करके उसके साथ समानाधिकार वर्तते थे, जैसाकि गीता में भी वर्णन किया है कि:—

---

* सन्तति होने पश्चात् पुनः गर्भाधान का काल न आने पर जो स्त्रीसंग करना है वह "व्यभिचार" कहलाता है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥

गी० ३ । १०

हे अर्जुन ! प्रजापति = परमात्मा ने यज्ञों के सहित प्रजा को उत्पन्न करके यह आज्ञा दी कि हे प्रजा ! यह यज्ञ तुम सब के मनोरथ पूर्ण करने वाला है, इसलिये इसका यथाविधि अनुष्ठान करके सर्वदा वृद्धि को प्राप्त होओ अर्थात् तुमको इष्टकामनाओं का देने वाला यह यज्ञ ही है, एवं अन्यत्र भी वर्णन किया है कि " दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत "= स्वर्ग = सुख की कामना वाला दर्श तथा पूर्णमास याग करे, और "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" = स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम याग करे, अधिक क्या प्राचीनकाल में आर्य्य पुरुष प्रत्येक कामना की सिद्धि यज्ञों द्वारा करते थे, यज्ञों द्वारा ही अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए वीर पुरुष याज्ञिक पुरुषों से उपदेश प्राप्त कर दुष्टदलन के लिये जाते थे, कहां तक लिखें वह ऐसा विचित्र युग था जिसमें पतित से पतित और छोटे से छोटे शिखा सूत्रधारी भाइयों को उच्च बनाकर उन्हीं के द्वारा अपने सब मनोरथ पूर्ण कराते थे यह उस समय के यज्ञ का महत्व था, परन्तु इस आधुनिक समय में जब हम दृष्टि पसार कर देखते हैं तो यज्ञादि कर्मों का सर्वथा अभाव होने के कारण हम लोग उन्नति शिखर से बहुत नीचे आगये हैं, या यों कहो कि जब से स्वार्थपरायण पुरुषों ने वैदिकप्रथा का त्यागकर मनमाने यज्ञ आरम्भ किये और अपने सहायक चमार आदि भाइयों को वैदिकशिक्षा तथा सभा समाजों से बहिष्कृत किया तभी से हम में निर्बलता तथा दरिद्रता ने प्रवेश किया और वह यहां तक बढ़गई कि हम लोग बाज़ार हाट तथा गली कूचों में पिटते फिरते और निर्जीव जीवों की न्याईं हमारी मौत रात दिन हमारे सिरपर घूम रही है, दुष्टजन हमारा धन धाम लूटते खसोटते, हमारी अबलाओं की दुर्दशा करते और घोरे दुपहर हमारा अपमान करते हैं, यदि अब भी इस संकट समय में हमारे हिन्दू भाई परमात्मा की इस आज्ञा का पालन

करें जो मनुष्यमात्र के लिये हितकर है तो अवश्य उनमें सद्भाव का संचार होगा, निम्नलिखित मंत्र में परमात्मा आज्ञा देते हैं कि:-

यथे मां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ॥
ब्रह्मराजन्याभ्या ७ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय ॥

यजु० २६ । २

हे मनुष्यो ! जैसे मैं इस कल्याणकारक वेदवाणी को जनेभ्यः = मनुष्यमात्र के लिये देता हूं वैसे ही तुम लोग भी पढ़ सुनकर मनुष्यमात्र को पढ़ाओ सुनाओ अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चारणाय = अतिशूद्र = अंत्यज और स्वाय = अपने भृत्यादि सबको वेदों का स्वाध्याय कराओ, क्योंकि यह कल्याण करने वाला होने से सर्वोपयोगी है, और स्त्रियाँ भी वेदों का अध्ययन करें, जैसाकि "प्रथमयुग" में गार्गी, मैत्रेयी तथा सुलभा आदि स्त्रियें वेदों का स्वाध्याय करने के कारण ही ऋषिका कहलाईं जिनके नाम आर्षग्रन्थों में भलेप्रकार विख्यात हैं, जिसप्रकार वेदाध्ययन का मनुष्यमात्र को अधिकार है इसीप्रकार "संगच्छध्वं संवदध्वं" इत्यादि मंत्रों में वर्णित मनुष्यमात्र एकत्रित होकर परस्पर एक दूसरे के कल्याण का उपाय सोच सकता है, जैसाकि पूर्वकाल में ब्राह्मण धर्ममर्यादा पर दृढ़ रहने की शिक्षा देते थे तो क्षत्रिय बलप्रयोग करने का उपदेश करते थे, वैश्य धन प्राप्ति का उपाय बतलाते थे तो शूद्र उक्त तीनों वर्णों की सेवा और सेवाद्वारा रक्षा का विचार करते थे, इसी प्रकार अंत्यज आदि जो परस्पर एक दूसरे की भुजायें थीं अपने २ कार्य्य में विचारपूर्वक संलग्न रहते थे, यह प्राचीन मर्यादा थी और यही उन्नत होने का एकमात्र उपाय था, जब यह मर्यादा थी तब यवनादि इतर जातियों में से किसका साहस था जो आर्य्यों को आंख उठाकर भी देखसके, परन्तु जब से सब ने साथ मिलकर वेदाध्ययन करना तथा मिलकर बैठना छोड़ दिया तभी से हमारी दुर्गति के लक्षण दिखाई देने लगे और अब तो इस हीन दशा को पहुंच गये जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, हमारी सब मान प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य्य हमसे छिनगये और अब इस अवस्था को प्राप्त होगये कि

प्रत्येक पुरुष अपना पेट भरने की चिन्ता में रात्रि दिन निमग्न है, किसी ने सच कहा है कि "जो जैसा करता है वैसा ही फल भोगता है" सो जैसा अन्याय तथा अनर्थ हमने किया उसी का फल दुःख आज हम भोग रहे हैं, निम्न लिखित मंत्र में वर्णन किया है कि:-

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः ।
पाहि रीषत उत वाजिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठय ॥

ऋग्० १।३६।१५

हे महान् ऐश्वर्य्य सम्पन्न ज्योतिस्वरूप परमात्मन् ! आप रक्षसः पाहि=दुष्ट पुरुषों से हमें बचावें और धूर्तेरराव्णः=धूर्त्त, अधर्मी, दुष्टाचारी तथा हमारे हनन की इच्छा करने वाले पापियों से हमारी रक्षा करें ॥

इस मन्त्र में परमात्मा से रक्षा की प्रार्थना कीगई है परन्तु वास्तव में परमात्मा भी उसी की रक्षा करते हैं जो रक्षा के योग्य होता है अथवा जो स्वयं भी कुछ हाथ पैर हिलाकर अपनी रक्षा करसकता है, सच तो यह है कि हमने अपने रक्षक हाथ पैररूप शूद्र तथा अंत्यज आदि को काटकर बाहर फेंक दिया अब धड़मात्र क्या रक्षा करसकता है, अत एव हमारा परम कर्तव्य है कि अब हम उसी प्राचीन मर्यादा अर्थात् प्रथमयुग का कर्तव्य जिसका वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है पूर्णतया पालन करें, सब नर नारी वैदिकशिक्षा प्राप्त करने की ओर लगें, अपनी सन्तान भी वैदिकशिक्षा की ओर लगावें, अपने घरों में यज्ञादि वैदिककर्मों का नित्य अनुष्ठान करें, मनुष्यमात्र को मित्रता की दृष्टि से देखें और अपने भाइयों से घृणा का भाव त्यागदें, जहां हम उन्नत हों वहां उन्हें भी साथ२ उन्नत करने का प्रयत्न करें, हमारे मन में त्याग का भाव हो और हम सदा अपने धर्म पर-सचाई पर-अपनी मान मर्यादा पर निछावर होने के लिये कटिबद्ध रहें, यही एकमात्र अवलम्ब और यही कर्तव्य है ॥

इस गिरावट के समय में भी जो वैदिकधर्म की आन पर अड़े रहे, या यों कहो कि जिन्होंने अपने आपको निछावर कर चिरकाल से

लुप्त हुए प्राचीन वैदिकधर्म को पुनः जाग्रत किया वह प्रातः स्मरणीय "महर्षि स्वा० दयानन्दसरस्वती" हैं, यह महर्षि का ही काम है जो आज सम्पूर्ण देश में धर्म की खोज होरही है, और पूज्य श्री पं० मदनमोहन जी मालवीय तथा कर्मवीर ला० लाजपतिरायजी जैसे प्रभावशाली पुरुष गोरक्षा तथा हिन्दुओं के सुधार का उपाय कर रहे हैं, इस समय हिन्दूमात्र का कर्तव्य है कि महर्षि के प्रति कृतज्ञता प्रकट करें और उनके सदुपदेशों से लाभ उठाकर अपने जीवन को उच्च बनावें ॥

दूसरे कर्मण्य पुरुषसिंह "गुरुगोविन्दसिंह" हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर हिन्दूधर्म को अपनाया, महान् दुःख तथा कष्टों का सामना किया, अपने मासूम बच्चों को बलि दियो परन्तु अपने प्राणप्रिय वैदिकधर्म का ह्रास न होने दिया, यह उन्हीं महापुरुष का काम है कि आज हिन्दू अपना सीना निकालकर हिन्दू कहते हैं, अतएव हिन्दूमात्र का कर्तव्य है कि गुरुदेव गोविन्दसिंहजी के जीवन से शिक्षा ग्रहण कर "कर्मण्य" बनें, क्योंकि कर्मशील पुरुष ही अपने श्रेय को प्राप्त होसकता है अकर्मण्य नहीं ॥

कविवर श्री पं० आर्य्यमुनिजी महाराज ने निम्नलिखित कवित्तों में सत्य ही वर्णन किया है जो हिन्दू जाति को सदा ध्यान में रखना चाहियेः—

कवित्त

काशी विश्वनाथ को निशान मिटजाता तब—
तीर्थों के धाम सब होते तुर्कान के।
मथुरा मसीत और कुरान रीति होती सदा—
योगीजन आनन्द न पाते योगध्यान के॥
हिन्दू रीत नीत मिटजाती सब भारत की—
जम्बू कश्मीर भी न होते राजगान के।
मान मर्यादा कीच बीच मिलजाती सब—
जो न तीर छूटते "गोबिन्दसिंह" ज्वान के॥

(२)

नाभा-पटियाला-जींद जीवित न होते तब–
सरहन्द बीच झंडे होते मुग़लान के।
कालज अकाल चाल ढाल न निराली होती–
पूजक होजाते लोग मढ़ी और मसान के॥
वेद भगवान् ज्ञान ध्यान का न नाम होता–
जप होम यज्ञ मिटजाते हिन्दुस्थान के॥
मलिन मलेच्छ रूप धारी नर नारी होते–
जो न तीर छूटते "गोबिन्दसिंह" ज्वान के॥

वैदिकधर्म का सेवक

देवदत्तशर्मा

काशी

विषयसूची

प्रथमाध्याय

द्वितीयाध्याय

तृतीयाध्याय

चतुर्थाध्याय

पंचमाध्याय

षष्ठाध्याय

—*—

ओ३म्

अथ वैदिककालिक इतिहासः प्रारभ्यते

हिन्दूधर्म

हिन्दूधर्म का इतिहास लिखने का विचार जब कभी मन में उत्पन्न होता है तब मन इस संशयसागर में निमग्न होजाता है कि "हिन्दूधर्म" कब से और किस ग्रन्थ के आधार पर है।

यह धर्म कब से है और कितने काल से इसको सनातनधर्म कहा जाता है? इस प्रश्न की मीमांसा से सर्वथा उदासीन होकर आजकल के अनेक भारतीय पण्डित यह कहते सुने जाते हैं कि हिन्दूधर्म सनातन काल से है, पर जब उनसे यह पूछा जाता है कि किस सनातन ग्रन्थ में "हिन्दू" शब्द पहिले पहल आया है और क्या उसकी व्याख्या है तो उत्तर यही मिलता है कि इससे क्या? "हिन्दू" शब्द कहीं हो वा न हो पर इसकी व्याख्या हिन्दूधर्म के स्मृति और पुराण ग्रन्थों में है।

इसी प्रसङ्ग में जब हिन्दूधर्म के मुख्य २ संस्कार विषयों में उनसे पूछा जाता है कि जिन मन्त्रों से हिन्दूमात्र का विवाह होता है वह मन्त्र पुराण तथा स्मृतियों में कहां हैं? तो इस उत्तर के लिये उनको हिन्दूधर्म की संकुचित चार दिवारी तोड़कर पार जाना पड़ता है और विवश होकर यह कहना पड़ता है कि विवाहादि संस्कारों के मन्त्र वेदों में हैं, तो फिर पुराण तथा स्मृतियें हिन्दूधर्म का आधार कैसे?॥

इसी प्रकार जब पतितोद्धार विषयक पूछा जाता है कि पुराण तथा स्मृतियों में कहीं पतित वा सङ्करजातियों के

उद्धार का कुछ उपाय है वा नहीं ? तो उत्तर यही दिया जाता है कि स्मृतियों में सङ्कर बन जाने का वर्णन विस्तारपूर्वक है और पुराणों में भी ऐसा ही पाया जाता है परन्तु उक्त ग्रन्थों में उनके उद्धार = सुधार का कोई उपाय नहीं, अस्तु—

यहां यह विषय हिन्दूमात्र के ध्यान देने योग्य है कि जिस जाति में गिरावट=गिरने=पतित होने के दर्वाज़े चहुं ओर खुले हों और उसके अभ्युदय = वृद्धि के द्वार सब ओर से बंद हों तो वह जाति संसार में कब तक जीवित रह सकती है ? ।

यदि हम यहां हानि लाभ के विचार को छोड़कर वेदों के सहारे निर्णय करना चाहें तो हमको इसका उत्तर मुक्तकण्ठ से वेदों में ही मिलता है कि सङ्कर बन जाने की कल वैदिककाल में न थी, हां इसके विरुद्ध पतितोद्धार का उपाय स्पष्ट रीति से वर्णन किया गया है, जैसाकि " कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम् " ऋग्० ९।६३।५ इस मन्त्र में स्पष्टतया आज्ञा दी है कि हमारे वेदज्ञ पण्डित लोग सम्पूर्ण विश्व को आर्य्य बनाते हुए हमारे यज्ञों में आवें, यहां न किसी पद का अध्याहार = ऊपर से जोड़-कर अर्थ बनाया गया है और न कोई विनियोग वा बनावट की गई है किन्तु सीधे सरल अर्थ करने से यह भाव स्पष्ट रीति से प्रतीत होता है कि वैदिककाल में अनार्य्य भी आर्य्य बना लिये जाते थे ।

यदि कोई यह कहे कि सनातन समय के सायणाचार्य्य ने उक्त मन्त्र के यह अर्थ नहीं किये ? इसका उत्तर यह है कि सम्पूर्ण सायणभाष्य में " आर्य्य " शब्द कहीं भी सोमादि जड़ पदार्थों का विशेषण नहीं आया और न कहीं " विश्व " के अर्थ सोम के किये गये हैं अर्थात् " विश्वं, सोमं " = तुम सोम को भद्र बनाते हुए यज्ञ में आओ, यह अर्थ सायणाचार्य्य ने

किये हैं जो उक्त दोनों शब्दों के आशय से विरुद्ध हैं, जैसा-कि " ज्योतिश्चक्रथुरार्य्याय " ऋग्० १।११७।२१ इस मन्त्र में " आर्य्य " शब्द आर्य्यजाति के लिये आया है कि परमात्मा आर्य्यजनों को ज्ञानरूप ज्योति उत्पन्न करता है, "यो न दासः आर्य्यो वा" ऋग्० १०।३८।३ इस मन्त्र में " आर्य्य " शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों वर्णों के लिये आया है, अधिक क्या वैदिककोष बनाने वाले निरुक्तकार ने निरु० ६।२६।२१ में वर्णन किया है कि " आर्य्य ईश्वर पुत्रः"= जो पुरुष सदाचारादि द्वारा परमात्मा की आज्ञापालन करता है वह उसके पुत्र समान है, इसलिये " आर्य्य " को यहां पुत्र कहा है, एवं सर्वत्र " आर्य्य " शब्द आर्य्यजाति के लिये आया है किसी जड़ पदार्थ के लिये नहीं, अस्तु—

हमें लकीर के फकीर बनने की आवश्यकता नहीं, चाहे सायणाचार्य्य हो वा स्वामी दयानन्द, जब वेद के अक्षर सीधे अर्थ देते हैं तो फिर किसी के अर्थ की कापी करने से क्या प्रयोजन, सत्यासत्य की विवेचना के लिये यहां इतना कह देना अनुपयुक्त न होगा कि इस मन्त्र पर स्वामी दयानन्दसरस्वती का भाष्य नहीं, क्योंकि उन्होंने ऋग्वेद का सप्तमसण्डल भी पूर्ण नहीं किया था कि ईश्वर के आदेशानुसार उन्हें यहां से प्रयाण करना पड़ा, और सायणाचार्य्य चौदहवीं शताब्दि में राजा "बुक" भूपाल के समय में हुए जब दक्षिण देश में मुगलों के आक्रमण से हिन्दूधर्म डगमगा रहा था, उस समय सायणाचार्य्य ने जो कुछ भी किया वह हिन्दूधर्म की रक्षा के लिये किया, परन्तु हम यहां इस भाव के सहारे सायण का साथ नहीं ढूंढ़ते कि जब वह "चत्वारि शृङ्गात्रयोऽस्यपादा" ऋग्०४।५८।३ इस मन्त्र के पांच अर्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं तो फिर "कृण्वन्तः

विश्वमार्य्यम् " के अर्थ सम्पूर्ण विश्व को आर्य्य बनाने में कृपणता क्यों ? इसका कारण यही प्रतीत होता है कि विक्रम के पश्चात् अर्वाचीन सनातनधर्मधारी हिन्दुधर्म के पण्डितमण्डल में यह कृपणता स्वभाव सिद्ध होगई है कि यों तो नित्य नये परिष्कार और अविष्कारों की झड़ी लगाकर अवच्छेदकावच्छिन्न से आर्षग्रन्थों को छिन्न भिन्न करना इनका सव्यसाची के समान बांये हाथ का खेल रहा है पर वेद के उपयुक्त अर्थ करके सदर्थ में विनियोग करना इनके लिये मोमन के समान कुफ्र का कलमा अर्थात् नास्तिकता के पथ का पद रहा है, अन्यथा क्या कारण कि जब निरुक्तकार वेदों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकार के अर्थ करने की आज्ञा देते हैं तो फिर यह पण्डितमण्डल भूत के समान आधिभौतिक अर्थ करने से क्यों भयभीत होता है।

अन्य युक्ति यह है कि स्वामी शङ्कराचार्य्यजी हिन्दूधर्म में शङ्कर के अवतार माने जाते हैं उनके किये हुए अर्थों से भिन्न सनातनधर्मियों ने अपने ग्रन्थों में नये अर्थ क्यों किये हैं ? जैसाकि " त्वं स्त्री त्वं पुमानसि " अथर्व० १०।४।८ के अर्थ शङ्कर-भाष्य में स्त्री पुरुष सब ब्रह्म हैं, यह किये हैं और अन्य पण्डितों ने भिन्नार्थ किये हैं, एवं " न तं विदाथ० " ऋग्०१०।८२।७ इस मंत्र के अर्थ सायणाचार्य ने एक ईश्वरवाद के किये हैं और मधुसूदन स्वामी ने अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ में मायावाद की सिद्धि में यह मन्त्र उद्धृत किया है, इस प्रकार प्रत्येक पण्डित जो अपनी स्वतन्त्र बुद्धि रखता है वह पहली लकीर का फकीर नहीं होता, पर जब पतितोद्धार = नीच जातियों को अपनाने का प्रश्न उत्पन्न होता है तो यह लोग नये अर्थ करना पाप समझते हैं, या यों कहो कि अक्षरों के सीधे अर्थ करने में भी

अपनी बुद्धि को परार्थ से परतन्त्र बनाकर सर्वथा परतन्त्रप्रज्ञ बन जाते हैं जिसका हमें अत्यन्त खेद है, अस्तु—इस कथा के लंबा होजाने से उक्त मन्त्र का अर्थ बहुत दूर पड़जाता है अर्थात् "कृण्वन्तः विश्वमार्य्यम्" इस मन्त्र के यह अर्थ कि सम्पूर्ण विश्व को आर्य्य बनालो, प्रसङ्ग सङ्गति से पूरा मन्त्र लिखकर अर्थ करते हैं कि:—

इन्द्रंवर्धन्तो अप्तुरः कृण्वंतो विश्वमार्य्यं। अपघ्नंतो अराव्णः ॥

ऋग्० ९। ६३। ५

अर्थ—हे याज्ञिक पुरुषो। तुम (इन्द्रं) ऐश्वर्य को (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए (अप्तुरः) आर्य्य जाति को व्यापक बनाओ (कृण्वन्तः, विश्वमार्यं) सम्पूर्ण विश्व को आर्य्य बनाते हुए (अराव्णः) राक्षस वा संकुचित भावों वाले परधर्मियों को (अपघ्नंतः) नाश करते हुए संसार में विचरो, यहां विचरना "अर्षन्ति" पद का अर्थ है जो उत्तर मन्त्र में है।

इस मन्त्र में ईश्वर आज्ञा देता है कि हे याज्ञिक लोगो! तुम आर्य्यजाति को बढ़ाते हुए इस विस्तृत भूमण्डल में विना रोक टोक के विचरो, इसी भाव को मनुधर्मशास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया गया है कि:—

शनकैस्तु क्रियालोपात् ब्राह्मणादर्शनेन च।
वृषलत्वं गतालोके इमा क्षत्रिय जातयः ॥

अर्थ—शनैः २ क्रिया लोप होजाने और वेदवेत्ता ब्राह्मणों के उस देश में न पहुंचने से ये सब वृषलत्व = शूद्रत्व को प्राप्त होगये और यह सब पूर्वकाल में क्षत्रिय थे जिनका वर्णन आगे किया जाता है:—

यवना किराता गान्धारा चीना शबर बर्बरा ।
कथं धर्मं चरिष्यन्ति सर्वे वै दस्यु जीविनः ॥

महा० शा० पं०

अर्थ—यवन, किरात, गान्धार, चीना, शबर तथा बरबर, शक, तुषार, कंक और पल्लव, इनमें वैदिकधर्म का कैसे प्रचार कियाजाय, क्योंकि यह सब दस्यु जीवन वाले होरहे हैं अर्थात् उपरोक्त सब जातियें जो आज अनार्य्य वा म्लेच्छों में गिनी जाती हैं, ये सब दस्युजीवी = अनार्यों के समान अपना जीवन कर रही हैं, इनको धर्म पर आरूढ़ करने का क्या उपाय है ? यह महाभारत शान्तिपर्व में प्रश्न किया गया है, और वहां इसका उपाय भी वर्णन किया है, इस प्रकार इस भाव को कि "अनार्य्य जातियों को आर्य्य बनाओ" वेद, मनुधर्मशास्त्र तथा महाभारत ने स्पष्ट रीति से वर्णन किया है, और हिन्दू धर्म के अनुसार मुख्य वेद ही प्रामाणिक है जिसको पीछे भले प्रकार समर्थन कर आये हैं ।

इसी भाव को स्वामी शङ्कराचार्य्य अपने भाष्य में इस प्रकार स्फुट करते हैं कि "शास्त्रयोनित्वात्" ब्र० सू० १।१।३ = "महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यस्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः"=सब से बड़ा जो ऋगादि चारो वेद-रूप शास्त्र है वह विद्या के अनेकत्व से विभूषित और दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाश करने वाला है, इसका नाम हिन्दुओं का मुख्य शास्त्र था जो अब परिडतों की दृष्टि से बहुत दूर होगया है, यदि आजकल किसी प्रकृत निर्णेतव्य विषय पर सम्मति लीजाय तो परिडत लोग मुक्तकण्ठ से यही कहते हैं कि शास्त्र आज्ञा नहीं देता, नजाने इन्होंने किस हौआ का

नाम शास्त्र रख छोड़ा है, यदि इन्हीं का शास्त्र प्रचलित रहा तो यह याद रहे कि किसी दिन ढूंढने पर भी हिन्दू नामधारी न मिलेगा, अस्तु–

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि हिन्दूधर्म्म के लिये ऋग्वेद से बढ़ कर अन्य कोई शास्त्र हित का शासन करने वाला नहीं, इस बात को केवल हमीं नहीं कहते किन्तु विदेशीय यूरप निवासी भी मुक्तकण्ठ से ऋग्वेद–दशममण्डल की भूमिका में यह कहते हैं कि:–

We may now safely call the Rig-veda the oldest book, not only of Aryan humanity, but of the whole world–

ऋग्वेद केवल आर्य्यजाति में ही सब से प्रथम नहीं किन्तु मनुष्यमात्र जो इस संसार में है उन सब के लिये साहित्य का प्रथम पुस्तक है, इसी प्रसङ्ग में भट्ट मैक्समूलर यह भी कथन करते हैं कि:–

यावत्स्थास्यंति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

अर्थ–जब तक यह हिमालय आदि पर्वत तथा गंगा यमुनादि नदियें हैं तब तक ऋग्वेद की महिमा लोगों में अटलरूप से प्रचलित रहेगी ।

ऐसे अचल और दृढ़ प्रचार वाले वेद को हिन्दूजनता ने यहां तक भुला दिया कि जब धर्माधर्म वा कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय की बात चलती है तो वेदविचारा "केन गण्यो गणेशः" के समान किसी भी गिनती में नहीं रहता, यों तो हिन्दुओं का प्रत्येक धर्मग्रन्थ वेद का डिण्डम बजाकर अपनी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करता है परन्तु प्रमाण के लिये

वेद का आजकल हिन्दूजनता में कुछ भी मान नहीं, ज्ञात होता है कि "कलौ पंच विवर्जयेत्" लिखकर वेद को भी तिलांजलि देदी अर्थात् गोमेध तथा अश्वमेधादिकों के साथ ही हिन्दुओं ने वेद का भी त्याग करदिया।

अधिक क्या, हिन्दुओं के बड़े से बड़े परिडत यह मानते हैं कि वेद में विधि नहीं अर्थात् ऐसा करो, ऐसा न करो, यह विधि निषेधरूप शास्त्र तो धर्मशास्त्र ही है वेद नहीं, हमारे विचार में यह कथन सर्वथा मिथ्या है, जैसाकि "विजानीहि आर्य्यान् ये च दस्यवो वर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्" ऋग्० १।५१।८ इस मंत्र में वर्णन किया है कि आर्य्य और दस्यु यह मनुष्यों के दो विभाग हैं, हे जगदीश्वर! आप वर्हिष्मते = यज्ञकर्ता यजमान = आर्य्य के लिये अव्रतान् = दस्युओं को रन्धया = यजमान के वशीभूत करें, क्या यह विधि के अर्थों में लोट लकार नहीं अर्थात् विधि की प्रार्थना नहीं? इस प्रकार वेदों में सहस्रों मन्त्र आर्य्य तथा अनार्य्य विषयक हैं जिनमें स्पष्ट रीति से विधि निषेध पाया जाता है कि आर्य लोग दस्युओं को भी आर्य्य बनालें, अन्य प्रबल युक्ति यह है कि ऋग्वेद में पांच ही जातियें मानी गई हैं अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद = दस्यु, और इन सब का वेद यज्ञादिकर्मों में अधिकार कथन करता है, जैसाकि "पञ्चजना मम होत्रं जुषन्ताम्" ऋग्० १०।५३।३ = उक्त पांचो प्रकार के जन = मनुष्य मेरे अग्निहोत्र का सेवन करें, इस प्रकार परमात्मा का वैदिककर्मों में सब मनुष्यों को अधिकार बोधन करना इस बात को सिद्ध करता है कि वैदिक समय में आर्य्यजाति विस्तृत थी और इसीलिये उस समय आर्य्यजाति का पूर्ण अभ्युदय था और यही चाल महाकाव्यों तक चली आई, जैसाकि बाल्मीकीय रामायण में

स्पष्ट है कि गुह जो आर्य्य न था किन्तु निषाद था उसको मर्यादापुरुषोत्तम राम ने अपनाया = गले लगाया और भीलनी जिसकी गाथा सर्वत्र गाई जाती है वह भी अनार्य्य थी उससे भी रामचन्द्रजी ने पाङ्क्त = पंक्ति में बिठलाने योग्य लोगों के समान व्यवहार किया, और महाभारत में तो एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिककर्मों के करने से चाण्डाल भी आर्य्य बन जाता था, जैसाकि मातङ्ग की कथा प्रसिद्ध है, कथा का संक्षिप्त प्रसङ्ग यह है कि एक समय मातङ्ग ऋषि रथ पर चढ़कर यज्ञ कराने जारहे थे, उन्होंने शीघ्र पहुंचने के लिये मार्ग में उन खच्चरों को जो रथ में जुते हुए थे बहुत मारा, तदनन्तर उनकी माता गर्दभी उन खच्चरों से बोली कि हे पुत्रो! तुम शोक मत करो यह ब्राह्मण नहीं किन्तु चाण्डाल है, तब ऋषि उसी समय शोकातुर हुए क्रोधित होकर अपनी माता के पास जाकर पूछने लगे कि हे मातः! तुम सत्य कहो मैं किसके वीर्य्य से उत्पन्न हूं, माता ने भयभीत होकर कहा कि तेरी नापित के वीर्य्य से उत्पत्ति है, ऋषि यह सुनकर उसी समय तप करने के लिये चला गया और उस तप के प्रभाव से वह छन्दोदेव = वेदों का भी देवता होगया।

क्या कोई यहां कहसक्ता है कि जो वेदों का देवता हो वह हिन्दूसमाज में स्पर्श के योग्य नहीं अथवा मन्दिरों में उस को पूजा पाठ का अधिकार नहीं, कदापि नहीं, उक्त कथाओं का तात्पर्य्य यह ज्ञात होता है कि उच्च वर्ण की स्त्रियों के साथ नीच वर्ण के पुरुषों को विवाह का अधिकार नहीं, अस्तु कुछ हो पर इन कथाओं से यह भाव अवश्य निकलता है कि नीच वर्ण पुरुष भी वेदादि शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन से महाकाव्यों के समय में भी उच्च बनसक्ता था, अधिक क्या जिनको

आजकल सङ्करजातियें कहा जाता है वैदिककाल में इनका नाममात्र भी न था, जैसाकि "पञ्चजना ममहोत्रं जुषन्ताम्" ऋग्० १०।५३।३ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चारो वर्ण और पांचवें दस्यु भी मेरे वैदिककर्मों में सम्मिलित होकर अग्निहोत्रादि कर्म करें, जब इतना उच्चभाव वैदिककाल में था तो फिर वहां वर्णसंकरों की तो कथा ही क्या, सच तो यह है कि जब से आधुनिक ग्रन्थों में सङ्करजातियों की अनन्त कथायें घड़लीगईं तभी से इन ग्रन्थों की छाया पड़ने से वेदार्थ भी दूषित होगये, जैसाकिः-

कारुकान्नं प्रजाहन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणकान्नञ्च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥

मनु० २।१९८

अर्थ—जो कारुक जाति का अन्न खाता है उसकी प्रजा = सन्तान नाश को प्राप्त होती, और जो निर्णेजक = रङ्ग बनाने वाले = लिलारी का अन्न खाता है उसका बल नष्ट होजाता है, और जो किसी गण = सभा समाज का अन्न खाता तथा गणका = वेश्या का अन्न खाता है वह इस संसार में समूल उच्छेद को प्राप्त होजाता है, यहां " कारुक " एक शिल्पी लोगों की जातिविशेष मानी गई है जिनको इस समय बढ़ई कहते हैं, इतना ही नहीं किन्तु अब कई एक अन्य जातियें भी कारुक जाति में सम्मिलित हैं, जैसाकिः—

तक्षा च तन्तुवायश्च नापितो रजकस्तथा ।
पंचमश्चर्मकारश्च कारवः शिल्पिनो मताः ॥

अर्थ—बढ़ई, जुलाहा, नाई, धोबी तथा चमार, यह पांच जातियें " कारुक " शब्द से कही जाती हैं, जिनका यह मत

है कि यह सब जातियें वैदिक समय में थीं उन्हें इस सिद्धान्त से उलटे लेने के देने पड़जाते हैं अर्थात् जो यह कहते हैं कि "ब्राह्मणेऽब्राह्मणं" इत्यादि वाक्य यह सिद्ध करते हैं कि ब्राह्मण से लेकर "झल्लामल्लानटाश्चैव" इत्यादि सब जातियें वैदिककाल में थीं, या यों कहो कि जो लोग नट प्रभृति सब जातियों को वैदिककाल में मानते हैं वह इसकी पुष्टी में यजुर्वेद का ३० वां अध्याय उद्धृत करते हैं, अस्तु—इसका उत्तर तो हम आगे चलकर देंगे, अब प्रकृत यह है कि जब यह सब जातियें वैदिककाल में थीं तो "कारुरहं ततोभिषक् उपलप्रक्षणी-ममनना" ऋग्० ९।६३।४ इस मन्त्र के जो अर्थ मिस्टर आर० सी० दत्त ने निज रचित पुस्तक "वैदिककाल के सामाजिक जीवन" में किये हैं उनसे इन लोगों को क्या इनकार हो सक्ता है जो कारुक आदि सब जातियें वेदों में मानते हैं, मि० आर० सी० दत्त इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि मैं तो कारुक हूं, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की पीसती है, जिस प्रकार बहुत गौयें भिन्न २ चरागाहों में चुगकर फिर एक ही घर में आबंधती हैं, इसी प्रकार एक कुनबे में कोई कारु, कोई वैद्य, कोई पिसनहारी होती है, इससे सिद्ध है कि वैदिककाल में हिन्दुओं में जातिभेद न था।

इसी प्रसङ्ग में उक्त मिस्टर साहिब यह भी लिखते हैं कि पुरुषसूक्त जो अब चारो वेदों में पाया जाता है वह भी हमारे लेख का खण्डन नहीं करता कि वैदिककाल में हिन्दुओं में जातिभेद न था, क्योंकि यह स्थल बहुत पीछे मिलाया गया है और युक्ति इस विषय में यह देते हैं कि ऋग्वेद के बनने तक हिन्दुओं को ईश्वर का ज्ञान न था, उस स्थल का पाठ यह है कि "जिस समय हिन्दूधर्म में परमेश्वर ने जिसका

उल्लेख ऋग्वेद में है ही नहीं स्थान पालिया था उसके भी उपरान्त का बना हुआ है ” पृष्ठ ४५, फिर आगे जाकर पृ० ८२ में आप ऋचा सात का अनुवाद करके जिसमें यह लिखा हुआ है कि “ एक ही ईश्वर ने सबको उत्पन्न किया उसी के वेद में भिन्न २ नाम हैं ” इस पर आप अपनी यह राय देते हैं कि इस सूक्त से हमको बिना किसी सन्देह के यह विदित होता है कि वेद के भिन्न २ देवता केवल एक ही अचिन्त्य ईश्वर के भिन्न २ नाम हैं, वैदिककाल का वैदिकधर्म० पृ० ८३।

आश्चर्य्य की बात है कि यह सूक्त ८२ है और पुरुषसूक्त ९० है जिसमें इनके मतानुसार जातिभेद पीछे से मिलाया गया है अर्थात् इस सूक्त से प्रथम भी सूक्त ८२ में एक निराकार ब्रह्म का वर्णन विस्तारपूर्वक था, फिर न जाने ऐसी भूल क्यों कीगई, अस्तु—

वास्तव में बात यह है कि इन पर तो विदेशियों की छाया पड़ जाने से इन्होंने यह सब कोलब्रुक साहिब का नाम देकर लिखा है, हमारे विचार में वह लोग वैदिकसाहित्य की तो कथा ही क्या संस्कृतसाहित्यमात्र के केवल पुष्पवत् घ्राता हैं, परन्तु हमें अत्यन्त खेद है कि हमारे घर के लोग जिन्होंने हिन्दू जनता के विश्वास में वेदों का अत्यन्त अभ्यास किया उन्होंने ही वेदों के अर्थों को कई एक स्थलों में ऐसा बिगाड़ा है कि जिससे विदेशियों को भी ऐसा साहस हुआ कि उन्होंने और भी अर्थों का अनर्थ कर दिया, जैसाकि ऋग् ० ९। ६३।५ मंत्र के अर्थ करते हुए सायणाचार्य्य लिखते हैं कि एक ऋषि सोम के छनने में अटक जाने = न छनने से अपने आपको पापी कहता और अपने कुल का परिचय यों देता है कि मैं गाने वाला हूं, मेरा पिता वैद्य, मेरी माता सोम पीसने वाली जो चक्की से

सोम पीसा करती है, हे सोम ! फिर तुम क्यों नहीं छनते, इत्यादि, ज्ञात होता है कि ऐसे ही बिना जोड़ तोड़ के अर्थों से योरोपीयनस् लोगों ने कारु के अर्थ बिगाड़कर यह तात्पर्य्य निकाला है कि बुद्ध से पूर्व हिन्दुओं में जात पात न थी, हमारे विचार में जब चारो वर्णों को पृथक् २ कथन करने वाला पुरुष-सूक्त चारो वेदों में स्पष्ट है तो फिर इस मिथ्यार्थ का क्या मूल्य ? अस्तु— ।

अब प्रश्न यह है कि सायणाचार्य्य ने ऐसे मिथ्यार्थ क्यों किये और यह कथायें ऊपर से क्यों घड़ी गईं ? जैसाकि उक्त सोम छानने आदि की कथा कि ऋषि से सोम छनता न था इसलिये उसने अपने परिवार को भला बुरा कहकर परिचय दिया, इत्यादि ।

हमारे विचार में इन मिथ्यार्थ तथा मिथ्या कथाओं के घड़ने का कारण यह है कि सायणाचार्य्य विजयानगर के राजा बुक के समय में ईसा की चौदहवीं शताब्दि में उत्पन्न हुए और इन्होंने चारो वेदों पर भाष्य किया, इनके इस कार्य्य का मैं ही नहीं हिन्दूमात्र कृतज्ञ है कि जिसने इतना बड़ा काम किया हो ऐसा हिन्दुओं में सायणाचार्य्य से भिन्न अन्य कोई पण्डित नहीं हुआ, पर मैं यह त्रुटि अवश्य मानता हूं कि जिस समय सायणाचार्य्य ने वेदों पर भाष्य किया वह अत्यन्त आपद्धर्म का समय था इसलिये उनको भाष्य करने का पूरा सामान नहीं मिला, क्योंकि उस समय मुगलों के आक्रमण तथा अत्याचारों से देश भयभीत तथा कंपायमान हो रहा था, इसलिये वेदार्थ करने में जहां तात्पर्य्य न बना वहीं ऊपर से कथा कहानियें जोड़दी गई हैं जो हम "कारुरहम्" मंत्र में वर्णन कर आये हैं, जहां कहीं तीनसौ महिषों का नाम आया वहां यह अर्थ किये हैं

कि इन्द्र देवता तीनसौ भैसों को खा जाता और तीन तालाब सोम के पी जाता है, पुनः जब "सहस्रं महिषान् अघः" ऐसा पाठ आया तो अर्थ यह किये गये कि इन्द्र देवता सहस्रों शत्रुओं का हनन करसक्ता है, अस्तु—यह सब उदाहरण वेद में हिंसा थी वा नहीं" इस प्रकरण में आवेंगे, यहां मुख्य प्रकरण वर्णन करने योग्य यह है कि "कृण्वन्तः विश्वमार्य्यम्" ऋग्० ९।६३।५ इस मंत्र के जो सायणाचार्य्य ने यह अर्थ किये हैं कि (विश्वं) सोम को (आर्य्यं) भद्र बनाते हुए आओ, अधिक क्या सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में कहीं भी "विश्व" के अर्थ सोम नहीं, इस भाव को हम पीछे उपपादन कर आये हैं, यहां दुबारा लिखने का तात्पर्य्य यह है कि पूर्व प्रकरण में सोम सब स्थानों में कर्त्ता है और यहां सोम को कर्म बनाकर इन अर्थों का सर्वथा नाश करदिया है, यहां यह लिखना भी अनुपयुक्त न होगा कि अब हिन्दूधर्मानुयायी लोगों को सायण के स्थान में हिन्दू सिद्धान्तों के अनुकूल कोई अन्य वेदों पर भाष्य लिखना चाहिये, क्योंकि गौ, अश्व, संन्यास, श्राद्ध में मांस के पिण्ड तथा विधवा विवाह, यह पांचो कलयुग में वर्जित हैं, पर अब इतना कह देने से काम नहीं चलता, क्योंकि यदि कोई पूछे कि क्या उक्त पांचो शुभकर्म सतयुग में होते थे अर्थात् गौ तथा अश्व को यज्ञ में बलिदान करना और श्राद्ध में मांस का पिण्ड देना सतयुग में धर्म था? यदि उस समय धर्म था तो अब क्यों अधर्म है ? यदि सायणभाष्य देखा जाय तो इसका ठीक २ उत्तर नहीं मिलता, हमारी राय में सायणाचार्य्य हिन्दूधर्म का पूर्ण सहायक नहीं, अस्तु—इस विषय को हमने यज्ञप्रकरण में विस्तारपूर्वक लिखा है।

अब यह विचारणीय है कि क्या वैदिककाल में शूद्र

जातियें थीं ? क्या कहीं भी अनुलोम तथा प्रतिलोम का वर्णन है ? इसका उत्तर यह है कि ऋग्वेद में तो सङ्करजातियों का नाम तक नहीं, और जो यह कहा जाता है कि यजुर्वेद अ० ३० में उक्त जातियें हैं यह भी सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि उसमें "धर्माय, सभाचतुरम्" है, क्या आज तक किसी ने आर्यों में सभाचतुर जाति देखी वा सुनी है ? यदि यह कहाजाय कि सभाचतुर नाम ब्राह्मण जाति का है तो उत्तर यह है कि "ब्राह्मणे ब्राह्मणम्" यह तो हम पहिले ही लिख चुके हैं कि परमात्मा ने पूर्वकाल में वेदाभ्यास के लिये सूक्तों के ज्ञाता ब्राह्मणों को उत्पन्न किया, यदि सभाचतुर की कोई खेंच तान करे तो भी "नरकाय, तस्करम्" का क्या अर्थ होगा ? क्या चोर भी कोई जाति है ? इत्यादि विचार करने से ज्ञात होता है कि वैदिककाल में सङ्करजातियें न थीं, और जो यह कहा जाता है कि मनुधर्मशास्त्र बहुत प्राचीन है उसमें सङ्करजातियें हैं तो उत्तर यह है कि उसमें भी संकरजातियों का प्रकरण पीछे से मिलाया गया है, मनु की कई एक शुद्ध प्रतियें हमारे ध्यान में हैं अगर होसका तो हम उन्हें छापेंगे, अधिक क्या "संकरो नरकायैव" गीता के इस वाक्य के अनुसार हिन्दूधर्म यदि नरक का आगार बन रहा है तो यह संकर जातियों का ही प्रभाव है, "आज यदि सात करोड़ अछूत हिन्दुओं से भिन्न कर दिये जायं" जो एक प्रकार से वर्णसंकरों का समुदाय है तो हिन्दू इक्कीस करोड़ की जगह चौदह करोड़ ही रह जाते हैं, एक प्रश्न हम हिन्दूमात्र से नम्रतापूर्वक करते हैं कि ये जो आज अछूत जाति मानी जाती हैं वह आर्य्य हैं वा अनार्य्य ? अछूतों से डरे हुए लोग इसको झटपट कहदेंगे कि वह अनार्य्य हैं पर जब उनका ध्यान ऋग्० १।५१।८ की ओर दिलाया

जाय कि "विजानी ह्यार्यान् ये च दस्यवः" = वेद में आर्य्य और अनार्य्य = दस्यु ये दो ही जातियें हैं तो क्या इस मंत्र के अनुसार कोई कहसकता है कि जिसको बड़े बल से चाण्डाल कहाजाता है वह अनार्य्य है, क्योंकि धर्मशास्त्र में कहीं २ क्षेत्र को भी प्रधान माना है तो क्या माता की ओर से मतंग ब्राह्मण न था ? एवं चमार जिसको अधम से अधम कहा जाता है वह भी चाण्डाली स्त्री में वधिक से पैदा होने से बनता है फिर चाण्डाली क्षेत्र के प्रभाव से आर्य्यजाति क्यों नहीं ? हम जब हिन्दूधर्म के कदलीस्तंभ के समान पत्तों को उधेड़ते २ उसकी जड़ तक पहुंचते हैं तो उसके खोलने से कुछ सार नहीं निकलता, यहां मैं एक महात्मा पुरुष के उपदेश का उदाहरण देकर इस कथा को समाप्त करता हूं, मैंने एक समय हिन्दुमात्र के पूज्य और भूमण्डल प्रसिद्ध श्री स्वामी रामतीर्थजी का व्याख्यान देहरादून में सुना, उन्होंने बड़ी करुणा से अछूत जातियों के उद्धार के विषय में यह कहा कि हाय ओइ मेरे रब्बा जिन देशों में मैं घूम कर आया हूं अर्थात् जापान तथा यूरप के कई एक देशों में हड्डी और चमड़े से भी रत्नों के मोल की चीजें बनाई जाती हैं पर हमारा अभागा देश बिगड़े हुए मनुष्यों को भी शुद्ध नहीं करसकता, इस देश के कई एक पण्डित जो अपने अर्थाभासयुक्त हिन्दूशास्त्र से ऊंच नीच का निर्णय किया करते हैं उनसे मैं यह पूछना चाहता हूं कि:—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ॥

गी० ९।३२

इस श्लोक में जो स्त्री, वैश्य और शूद्र को पापयोनि कहा

है तो फिर ऐसी माताओं से उत्पन्न हुए पुरुष पुण्ययोनि कैसे? मधुसूदन सरस्वती इसके यह अर्थ करते हैं कि इससे पूर्व श्लोक में आगन्तुक दोषों वाले दुराचारियों का वर्णन किया है, या यों कहो कि इसमें स्वाभाविक दोष वाले स्त्री शूद्र तथा वैश्यों का वर्णन है, और स्वाभाविक दोष स्वामीजी ने यह निकाला है कि इनको वेद का अधिकार नहीं, यदि स्त्रियों को वेद का अधिकार नहीं था तो लोपामुद्रा, सुलभा तथा सूर्य्या जो वेदों की ऋषिकायें थीं उनको वेदों का अधिकार कैसे? अस्तु-स्त्री बिचारी पर तो अन्याय सही पर वैश्य तो त्रैवर्णिक था उसको वेद का अनधिकार कैसे? हमारे विचार में इस श्लोक का अर्थ यदि पूर्व श्लोक के साथ मिलाकर किया जाय तो ठीक बैठता है अर्थात् दुराचारी वैश्य तथा दुराचारी शूद्र भी ईश्वरपरायण होकर सद्गति को पाजाते हैं, अस्तु-हम मुख्य शास्त्र वेद का आश्रय लेकर यह कहते हैं "यो नः दासः आर्यो वा" इस मंत्र में आर्य और शूद्र का समानाधिकार कथन किया गया है, हिन्दूधर्म निरूपण के प्रसंग में कथा बहुत बढ़गई, अब हम इन दो प्रश्नों के उत्तर देकर कि हिन्दु शब्द पहिले पहिल कहां आया और इसका क्या अर्थ है और हिन्दूधर्म का मुख्य लक्षण क्या है? इन दो प्रश्नों का उत्तर देकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

हमारे विचार में हिन्दू शब्द सतयुग, त्रेता, द्वापर और लगभग साढ़ेतीनहज़ार कलयुग बीतने तक भी किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता अर्थात् चारो वेदों के व्याकरणादि छओं अङ्ग तथा उपाङ्ग, चारो ब्राह्मण, वाल्मीकीय महाकाव्य और महाभारत इनमें से किसी ग्रन्थ में भी हिन्दू शब्द नहीं, अधिक क्या नाटकों का समय जो संस्कृत के साहित्य में सब के पश्चात् का है उसमें भी "हिन्दू" शब्द नहीं आया, हां जब हिन्दूधर्म बहुत ही अधमता की अवस्था को पहुंच गया तब उस अवस्था में सब प्रकार के भले बुरे ग्रन्थ बनने लगे,

और जब तन्त्रग्रन्थों का निर्माण हुआ उस समय एक मेरुतन्त्र नामक ग्रन्थ में पहिले पहिल "हिन्दू" शब्द आया है, जैसाकि:—

हिन्दूधर्म प्रलोप्तारः जायन्ते चक्रवर्तिनः ।
हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दूरित्युच्यते प्रिये ॥

यह पाठ मेरुतन्त्र का है, प्रथम पंक्ति का अर्थ यह है कि हिन्दूधर्म को लोप करनेवाले चक्रवर्ति उत्पन्न होगये, इससे तात्पर्य्य मुगलों का है, दूसरी पक्ति का अर्थ यह है कि हीन=गिरे हुओंको और अधिक गिराने वालों को हिन्दू कहते हैं, कुछ हो गिरे हुए वा गिराने वालों का नाम हिन्दू हो तब भी अन्वर्थ संज्ञा ही है अर्थात् "यथा नाम तथा गुणः" है, क्योंकि महाभारत युद्ध के अनन्तर हिन्दुओं ने गिरी हुई जातियों= सङ्कर जातियों को बहुत गिराया, अपनाया नहीं, पर अब हिन्दू शब्द उक्त अर्थ कदापि नहीं देता, क्योंकि अब हिन्दूमात्र में जाग्रति होगई है और अब हिन्दूलोग अपने भाइयों को गिराना नहीं चाहते किन्तु उनको उठाना=अपनाना चाहते हैं ।

वैशेषिक शास्त्र में "हिन्दू" शब्द के एक और अर्थ किये हैं जो हमारे विचार में बहुत ऊंचे हैं " हीने वैरत्यागः " सदाचार से हीन=रहित पुरुषों के साथ वैर का त्याग करदेना चाहिये "हीनं दूषयति" के स्थान में अब यह अर्थ हुए कि "हीने यः वैरं दूषयति स हिन्दूः"= जो आचार व्यवहार से हीन पुरुषों के साथ वैर नहीं करता वह "हिन्दू" है, ज्ञात होता है कि यह अर्थ योगशास्त्र से लिये गये हैं जैसा कि:—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणांसुखदुःखपुण्या-
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ योग० १।३३

अर्थ—सुखी, दुखी, धर्मी, अधर्मी पुरुषों में मित्रता, दया,

हर्ष और उदासीनता की भावना से चित्त प्रसन्न होता है अर्थात् अपने समान=बराबर वाले के साथ मैत्री करना, अपने से छोटे पर करुणा=सदा दया करना, अपने से अधिक=बड़े को देखकर प्रसन्न होना और असुर=राक्षस वृत्ति वाले पुरुष का सदा के लिये संग त्याग देना, यह हिन्दुओं तथा हिन्दूधर्म का सर्वोपरि लक्षण है।

सच तो यह है कि इस धरातल पर ऐसी एक ही जाती है जिसके आचार व्यवहार ऐसे उच्च हैं जैसेकि उक्त योगसूत्र में वर्णन किये गये हैं, यदि इस देश में बाहर से असुर वा म्लेच्छ जातियें न आतीं तो हिन्दुओं के तुल्य कोई भी मोदायमान वा सौभाग्यशाली न होता, उक्त जातियों के आने से इनके शान्ति के पारायण, पूजापाठ तथा योगध्यानादि सब बन्द होगये, इस अवस्था में इनके बचने के दो ही उपाय थे कि या तो यह बन्दे बहादुर के समान "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्" इस न्याय के अनुसार यह भी क्रूरता का चोला पहन लेते, जैसाकि निम्नलिखित मत्तगजेन्द सवैया में एक कवि ने लिखा है, यह उस समय का वाक्य है जब गुरुगोविन्दसिंहजी के पास से आकर बन्दा बहादुर सब सिक्खों को एकत्रित करने के लिये नोटिस देता है:—

(१)

जो गुरु सिक्ख कहावत हैं, अब मानलवो गुरुके बच सोऊ।
देह तजो न तजो निज धर्महिं अंत मरे जग में सब कोऊ॥
जूझ मरो रण में सगरे प्रिय मोदक हैं तुमरे कर दोऊ।
जो जग जीवहं राज करें मरहैं सुरगे सुख पावहं सोऊ॥

(२)

म्लेच्छ निशातम दूर करों सब अन्धनिशा को हरे जिमि चन्दा।
मूढ मलेच्छन के इमि काटहुं खड़ग कटे बन को जिमि कन्दा॥
एक उद्देश्य यही भव में पुन झूठ लखों जग को सब धन्दा।
एतक काम करों जब मैं तुम जानो तभी मुझको गुरु बन्दा॥

सिक्खों का इतिहास पढ़ने वाला कौन पुरुष है जो इस वीर को नहीं जानता परन्तु फिर भी इस हिन्दू जाति में ऐसे अभागे जीव बहुत भरे पड़े हैं जो भक्तमाल के भक्तों की तो मालायें दिन रात फेरते हैं पर जो इस भारतजननी के सपूत वा हिन्दूजाती के परम सेवक हुए हैं, या यों कहो कि जिन्होंने इस जाति की रक्षा के लिये अपने रुधिर से इस वसुंधरा को बलिदान दिया उनका कोई नाम तक नहीं जानता।

बन्दा बहादुर सिक्खों के इतिहास में एक पक्का हिंदू था, यह केश नहीं रखता था और नाही सिक्खधर्म के अनुसार यह अमृत छक कर दीक्षित हुआ था, यह वह पुरुष था जिसने सरहिन्द को तीर्थ बनाया, या यों कहो कि परशुराम के समान सरहिन्द में तर्पण देकर अपने गुरु गोविंदसिंहादि ज्ञानी पितरों को तृप्त किया।

यह प्रसङ्गसङ्गति से हिंदूधर्म की रक्षार्थ कथन किया गया, दूसरा रक्षा का उपाय वही है जो वेदों के सूक्तों का पठन पाठन करना है जिनमें राक्षसों के हनन का परम उपाय वर्णन किया गया है, जैसा कि "रक्षोहणं वाजिनमाजिघर्मि" ऋग्० १०। ८७।१ "जम्भैः संधेहि अभियातुधानम्" ऋग्० १०। ८७। ३ इत्यादि मंत्रों में यह वर्णन किया है कि वैदिक समय में योद्धालोग हवन करके अग्नि के समान देदीप्यमान होकर इन रक्षोहण सूक्तों के प्रभाव से राक्षसों का हनन करते थे, "रक्षः"=राक्षसों का "हन"=हनन जिन सूक्तों में वर्णन किया गया हो उनको "रक्षोहण" सूक्त कहते हैं, इन सूक्तों में अस्त्र शस्त्रों की विद्या का भले प्रकार वर्णन है, और "दधिक्रा" महास्त्र का वर्णन भी इन्हीं सूक्तों में है, उस समय में यह एक ऐसा अस्त्र=यन्त्रविशेष था जिससे एक ही योद्धा सहस्रों राक्षसों का हनन करसकता था, और याज्ञिक लोग साभिमान कहते थे कि जो हमारे यज्ञों में विघ्नकारी होंगे हम

उनके टुकड़े २ करदेंगे, इस विषय में ऋग्० १० । ४८ । ७ का प्रमाण है अर्थात् हिन्दूधर्म की रक्षा का दूसरा उपाय यह था।

इसी उपाय से हिन्दूधर्म के संरक्षक महारथी गुरु गोविन्द सिंह ने नैनादेवी के पर्वत पर हवन करके देश को निष्कंटक करने की प्रतिज्ञा की थीं, और इसी महायज्ञ के प्रभाव से आबू पर हिन्दूधर्मसंरक्षक क्षत्रिय उत्पन्न किये गये थे, अधिक क्या अब भी रक्षोहण सूक्तों का पाठ और हवनकुण्ड ही हिन्दूओं की रक्षा करसकता है अन्य कोई रक्षा का मार्ग नहीं, अस्तु :—

कई एक लोगों का विचार यह है कि "हिन्दू" शब्द "सिन्धू" से बिगड़कर बना है, क्योंकि आक्रमण करनेवाली जातियें जो ईरान की ओर से आती थीं वह प्रायः "ह" के स्थान में "स" बोलती थीं, जैसाकि "सप्ताह" के स्थान में "हफता" और "सप्त" के स्थान में "हफत" बोलती थीं, कुछ हो परन्तु वैदिक आर्य्यजाती का हिन्दू नाम बहुत नया है।

हमारा अभिप्राय इस नूतन समय के भूषण के त्यागने में नहीं और न हमारा अभिप्राय इसमें कोई दूषण निकालने का है किन्तु हंडिया बाबा, कालीकंबली वाला तथा सतुआ स्वामी, जैसे आज कल यह नाम संन्यासियों के भूषण बन गये हैं इसी प्रकार हिन्दू नाम भी एक प्रकार का भूषण है।

यदि सिन्धु से बिगड़कर हिन्दू मानाजाय तो इसने तो सोना और सुगन्ध सदृश काम करदिया, क्योंकि सिन्धु से इधर रहने वाले सप्तद्वीपावसुमती में से एक द्वीप के स्वामी हिन्दू हैं, इस भाव को भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने यों वर्णन किया है कि "आचकालकवनात्"=काले बाग से पूर्व और पूर्व समुद्र से पश्चिम, दक्षिण महासागर तथा हिमालय के बीच जो देश वह आर्य्यावर्त्त है, इसी सीमा को सिन्धु से बिगड़कर

बनने वाले हिन्दू शब्द ने और भी पुष्ट करदिया।

यहां यह कहना भी असङ्गत न होगा कि "आर्य्यधर्मेतराणां प्रवेशोनिषिद्धः"=आर्य्य धर्म से इतर पुरुषों का प्रवेश=जाना निषेध है, यह हमारे सर्वमान्य मन्दिरोंपर लेख लिखकर इस विषय को और भी पुष्ट करदिया कि हिन्दू नाम आर्य्यजाति का पर्य्याय है अन्यथा हिन्दू जाति से भिन्न अन्य के आने को निषेध न किया जाता।

यहांतक "हिन्दू" शब्द का विचार करके अब यह विचारणीय है कि हिन्दू कौन हैं और उनका मुख्य लक्षण क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो वेदों को मानता हो अथवा वेदों के मुख्य २ सिद्धान्तों में से किसी एक को भी विशेषरूप से मानता हो वह "हिन्दू" है, यह लक्षण सर्वव्यापक है जो आर्य्य, सिक्ख, जैन, बौद्ध तथा पारसी आदि सब में घट जाता है, सिक्ख वेदों को मानते हैं, क्योंकि उनके धर्मग्रन्थ-गुरुग्रन्थसाहब में वेद और वैदिकसिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, जैसाकि "अहरनमत्त वेद हथियार"=बुद्धिरूप अहरन पर वेदरूप हथियार से जो वस्तु गढ़ी जाती है वही ठीक होती है, और यह भी लिखा है कि "जिन वेद पढ़ियो तिन वेदी कहलयो"=जिन्होंने वेद पढ़े वही वेदी कहलाये, अधिक क्या वेदी नामक खत्रीजाति में ही सिक्खों के मुख्य गुरु उत्पन्न हुए थे, और पुनर्जन्म आदि सब वैदिकसिद्धान्तों का गुरुग्रन्थ साहब में सविस्तर वर्णन पाया जाता है, अतएव सिक्ख हिन्दू हैं, और जैन लोग पुनर्जन्म, गोरक्षा तथा अन्त्येष्टिसंस्कार=दाहकर्म, इत्यादि मुख्य २ वैदिकसिद्धान्तों को मानने के कारण हिन्दू हैं, पारसियों की ज़िन्दावस्था वैदिक देवताओं का वर्णन करती है, इसलिये ईसाई, मूसाई तथा मुहम्मदी धर्म से सर्वथा विपरीत है, अतएव एक अंश में अर्थात् वैदिकदेवों

द्वारा अपने धर्म का संस्कार करने के कारण वह भी हिन्दुओं के एकदेशी हैं, महात्मा बुद्ध निर्वाण को मानते थे, और निर्वाण वेद तथा गीतादि ग्रन्थों का मुख्य सिद्धान्त होने से बौद्ध भी हिन्दू ही हैं, और ब्रह्मसमाजी आदि, साधारण तथा नवविधान, इन तीन विभागों में विभक्त हैं जिनमें आदि तो पक्के हिन्दू हैं, क्योंकि यह वेद तथा उपनिषदों को मानते हैं, और साधारण यद्यपि पुनर्जन्म तथा वेदादि सच्छास्त्रों को नहीं मानते परन्तु फिर भी वेदों का प्रधान संस्कार अन्त्येष्टि कर्म हिन्दूओं के समान ही करते हैं, यही दशा नवविधानी बाबू केशवचन्द्र के संप्रदाय की है, अस्तु—यहां यह कहना अनुचित न होगा कि जो वेद और वैदिक संस्कारों से किनारा करता है वह मुख्य हिन्दू नहीं कहा जासक्ता, हिन्दू मुख्य चार सम्प्रदायों में विभक्त हैं (१) सनातनधर्मानुयायी (२) सिक्ख (३) जैनी (४) आर्य्यसमाजी, इनमें से सनातनधर्मी चाहें महाराजा विक्रमादित्य से अर्वाचीन धर्म को ही सनातनधर्म मानते हों पर वेद और वेदों के मुख्य सिद्धान्तों को अविचलतया मानते हैं, अर्थात् इनके उपनयनादि सब संस्कार वैदिक होते हैं, विवाहादि संस्कारों में वेदमन्त्र पढ़े जाते हैं और प्रधान २ मन्दिर तथा प्रधान घरों में प्रतिदिन वेदपाठ होते हैं, अतः वेदानुयायी धर्म का नाम हिन्दू धर्म है, और यह लक्षण इनमें पूर्ण प्रकार से घटता है।

जैन और सिक्खों के विषय में पूर्व वर्णन कर आये हैं अब रहे चौथी संख्या पर आर्य्यसमाजी सो इनकी तो कथा ही अकथनीय है, क्योंकि यह हिन्दू धर्म के समाज की वृद्धि में प्रतिदिन कटिबद्ध रहते अर्थात् हिन्दू जनता को बढ़ाते हैं, यह ईश्वर के बहुत्व को घटाकर केवल परमात्मा को एक मानते हैं, या यों कहो कि जहां हमारे सनातनधर्मी तेतीस करोड़ देवता मानते हैं वहां यह

लाखों और करोड़ों की ही कमी नहीं करते किन्तु घटाते घटाते एक पर आजाते हैं, और फिर "योदेवानांनामधाएक एव" ऋग्०१०।८२।३ "एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः" श्वेता० ६।११ इत्यादि प्रमाण देकर अनेक ईश्वरवादियों का मुंह बन्द करना चाहते हैं, इस खिज से खिजे हुए हिन्दू तो इनको कदापि हिन्दू कहने के लिये तैयार नहीं, इस विषय को हम कुछेक प्रश्नोत्तरों द्वारा स्पष्ट करते हैं, यदि किसी हिन्दू से यह पूछा जाय कि आपके प्रधान देवता जो गणेश हैं उनका नाम पतञ्जलिमुनि के भाष्य में कहीं आया है वा नहीं ? तो उत्तर यही मिलेगा कि नहीं, यदि यह पूछाजाय कि कहीं वेद में तेतीसकरोड़ देवताओं का नाम है ? इसका उत्तर भी यही मिलेगा कि नहीं, वास्तव में बात यहहै कि ऋग्० १० । ५५ । ३ में जो तेतीस देवता वर्णन किये हैं उन्हीं से बढ़ाते २ तेतीस करोड़ बनगये, या यों कहो कि जब वैदिक देवों को लोग मानते थे तब भारतवर्ष के मनुष्यों की संख्या तेतीस करोड़ थी, अस्तु—कुछ हो यह प्रसङ्ग से कथन किया गया, मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वेदों के मुख्य २ सब सिद्धान्तों को आर्य्यसमाजी मानते हैं, जैसाकि गोरक्षा, पुनर्जन्म, मुक्ति तथा कर्मों द्वारा ऊंच नीच गति की प्राप्ति, इत्यादि, और चारो वेद, चारो ब्राह्मण, उपनिषद् तथा महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण और महाभारतादि सब ग्रन्थों को आर्य्य-समाजी मानते हैं, अतएव इनमें उक्त लक्षण पूर्ण प्रकार से घट जाता है कि जो वेद तथा वैदिकसिद्धान्तों को मानता है वह आर्य्य है, क्योंकि ऋग्० १०।४८।३ में ईश्वरीय आदेश है कि मैंने आर्य्य नाम दस्युओं को नहीं दिया, अतः हिन्दू तथा आर्य्य एक हैं॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिना निर्मिते वैदिककालिके
इतिहासे हिन्दूधर्मनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः॥

प्रथम युग

वर्णितं यद्युगेप्राच्ये धर्मतत्त्वं सनातनम् ।
नृणां हितकरं पथ्यं परिणामे सुखावहम् ॥
तत्तद्वक्ष्ये मुनिः सर्वं धर्मतत्त्वविवेचनम् ।
बलं सामाजिकं यच्च तच्च वक्ष्ये सविस्तरम् ॥

प्रथम युग=जो आर्यों की धर्मोन्नति तथा सामाजिकोन्नति का पहिला काल था उसको वैदिकयुग अथवा प्रथमयुग के नाम से भी कहसकते हैं, इस युग में आर्यों का उपास्यदेव अर्थात् अभ्युदय तथा निःश्रेयस का देने वाला एक देव माना जाता था और इस देव के महत्व का वर्णन यहां तक पाया जाता है कि ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में उस देव को यज्ञ का देव माना है, "यज्ञ" शब्द का तात्पर्य्य उस समय उस क्रियाकलाप का लिया जाता था जिसमें लौकिक उन्नति तथा परलोक विषयक गूढ़तत्वों का अनुसंधान किया जाता था, उस वैदिककाल में आर्यों का एकमात्र यज्ञ ही लक्ष्य होता था, उस समय मन्दिर, शिवालय, देवी वा देवालय न थे और न उस समय प्रयाग, काशी, हरद्वार तथा पुष्कर आदि तीर्थ थे और इनके कुम्भादि मेले जो अब बड़े समारोह के साथ होते हैं वह भी न थे, इन सब के स्थान में एकमात्र यज्ञ ही प्रधान था, या यों कहो कि उस वैदिकयज्ञ के प्रतिनिधि मन्दिर, शिवालय तथा तीर्थ बहुत काल पश्चात् आबने, अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं, संक्षेप से यह कहा जासक्ता है कि उस समय निराकार, साकार अथवा मूर्त्त, अमूर्त्त का झगड़ा भी आर्य्यों में न था, जिसमें प्रमाण यह है कि निराकार, साकार अथवा मूर्त्त, अमूर्त्त, यह शब्द चारो वेदों में कहीं भी नहीं मिलते, मूर्त्त तथा अमूर्त्त का व्यवहार

पहिले पहिल ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रारम्भ हुआ है जिसके अब उलटे अर्थ करके कई एक प्रतारक व्याख्याता यों प्रतारणा करते हैं कि "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च" बृहदा० २।३।१ इस वाक्य में ईश्वर के मूर्त्त=साकार तथा अमूर्त्त=निराकार दोनों रूप हैं परन्तु वह यह नहीं सोचते कि यह प्रकरण तो पांचो तत्वों के मूर्त्त तथा अमूर्त्त दोनों विभाग बतलाता है अर्थात् आकाश तथा वायु को "अमूर्त्तरूप" और अग्नि जल तथा पृथिवी को "मूर्त्तरूप" कहता है, हमीं नहीं इस वाक्य के स्वा० शंकराचार्य्य अपने भाष्य में यह अर्थ करते हैं कि "पञ्चभूतजनित कार्य्यकारण सम्बद्धं मूर्त्तामूर्त्ताख्यम्"=पांचभूत जो कार्य्य तथा कारणरूप हैं वही मूर्त्त तथा अमूर्त्त नाम से कहे गये हैं, इस प्रकार यहां पांच भूतों के मूर्त्त तथा अमूर्त्त होने का वर्णन है सच्चिदानन्द ब्रह्म को मूर्त्तामूर्त्त विभागों में बांटने का वर्णन नहीं, इसी लिये स्वा० शं० चा० ने लिखा है कि "ब्रह्मणः परमात्मनो रूपे रूप्यते याभ्यामरूपं परं ब्रह्माविद्याध्यारोप्यमाणाभ्याम्"=अविद्या से ब्रह्म में आरोप किये गये जो यह मूर्त्तामूर्त्त दोनों रूप हैं उनसे ब्रह्म का निरूपण किया जाता है अर्थात् इन तत्वों द्वारा ब्रह्म का इस प्रकार निरूपण करते हैं कि यह तत्व उत्पत्ति विनाश वाले और ब्रह्म उत्पत्ति विनाश से रहित है, यदि कोई मूर्त्तिपक्ष का आग्रह करके इस भाष्य के यह भी अर्थ करे कि यहां सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले ब्रह्म के ही दो रूप कथन किये गये हैं तो उसको यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस भाष्य में दोनो रूपों को अविद्या से कल्पना किये हुए माना गया है, क्या कोई मूर्तिपक्षवाला कहसकता है कि जो लोग मूर्त्ति को ईश्वर का शरीर मानकर पूजा करते हैं वह अविद्या तथा अन्धकार

में प्रवृत्त हैं और जो निराकार मान रहे हैं वह भी अविद्या में ग्रसित हैं अर्थात् दोनों ही अविद्या का काम करते हैं" इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए हम इतना अवश्य कहेंगे कि यह मूर्त्तामूर्त्त का झगड़ा हिन्दुओं में बुद्ध के पीछे प्रवृत्त हुआ, बुद्ध से पहिले हिन्दुओं में यज्ञ ही सर्वोपरि कर्तव्य था और यज्ञ का देव=परमात्मा ही मुक्ति का देवता वा पुण्य पाप का फल प्रदाता माना जाता था ॥

"देव" शब्द स्वयं उच्च अर्थ रखता है अर्थात् दीप्तिवाले वा तेजस्वी को "देव" कहते हैं, या यों कहो कि जिसमें दिव्य भाव हों उसका नाम "देव" है, दिव्य के अर्थ द्युलोक में होने वाली वस्तु के हैं, इसी अभिप्राय से "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" मुण्ड० २।१।२ में वर्णन किया है कि वह दीप्ति वाला मूर्त्तधर्म से रहित पुरुष सर्वत्र व्यापक है, इसी यज्ञ के देवता को ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में कथन किया है कि "यज्ञस्य देवमृत्विजम्" = मैं उस देवता की स्तुति करता हूं जो प्रत्येक ऋतु=काल में यजन करने योग्य है, यहां पर कई एक लोगों को यह भ्रान्ति होगी कि इस स्थल में अग्नि को यज्ञ का देवता माना गया है, स्मरण रहे कि वेद में "अग्नि" शब्द सर्वत्र भौतिकाग्नि का ही बोधक नहीं किन्तु जहां उपास्य देव के अभिप्राय से "अग्नि" शब्द आया है वहां सर्वत्र ईश्वरार्थवाची जानना चाहिये, जैसाकि "स्वस्तिनो दिवो अग्ने पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव" ऋग्० १०।७।१= हे अग्नि देव आप उपासक के लिये सम्पूर्ण आयु दें और द्युलोक तथा पृथिवी लोक के मध्य में उसको स्वस्ति=मंगल और ऐश्वर्य्य प्रदान करें, यहां देव शब्द जो उपास्यदेव के अभिप्राय से सम्बोधित किया गया है जिसका दूसरा नाम "अग्नि" भी है,

गया. कोई कहसक्ता है कि यहां अग्नि से आशय भौतिकाग्नि का है, क्योंकि द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में मंगल प्रदाता परमात्मा से भिन्न कौन कहाजासक्ता है, इतना ही नहीं आगे के मंत्र में "अग्नि" को पिता, भ्राता तथा सब से प्रिय सखा कथन किया गया है और फिर यह कथन किया है कि सूर्य्य लोक की ज्योति भी एकमात्र अग्नि ही है, इस प्रकार अग्नि वेद में सूर्य्यादिकों का भी प्रकाशक पाया जाता है फिर वेद स्वयं मुक्तकण्ठ से कहता है कि "सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथा-पूर्वमकल्पयत्" ऋग्० ८।८। ४८=सम्पूर्ण संसार के निर्माता परमात्मा ने सूर्य्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्त-रिक्षादि अनेक लोक लोकान्तरों को निर्माण किया, इस प्रकार अग्नि शब्द परमात्मा के महत्व को कथन करता है, इस बात को वेद के सूक्तों का अभ्यास करने वाले "मैक्समूलर" आदि विदेशी लोग भी कहते हैं कि ऋग्वेद में "अग्नि" शब्द केवल भौतिकाग्नि को ही नहीं कहता किन्तु विद्युत्, सूर्य्य तथा अन्य कई प्रकार के सामर्थ्ययुक्त देवों को भी कहता है, इसी भाव में भावित होकर "रमेशचन्द्रदत्त" ने अपने भारतीय सभ्यता के इतिहास में यह कथन किया है कि अग्नि, वरुण, मित्रादि नामों को धारण करने वाला वेद में एक परमात्मा ही माना गया है अर्थात् स्वतःप्रकाश होने के अभिप्राय से "अग्नि". सबको वशीभूत करने तथा सबका नियंता होने के अभिप्राय से "वरुण" और सर्वमित्र होने के अभिप्राय से "मित्र" कथन किया गया है, इसी अर्थ को पुष्ट करने के लिये ऋग्० मण्डल १० सू० ८२ के अनेक मंत्रों का अनुवाद करके वेदों को ईश्वरीय न मानने वाले विदेशी और स्वदेशी लोग भी मुक्तकण्ठ से यह कहते हैं कि जिसको उपनिषदों के समय में ब्रह्म माना गया

और जो दर्शनों के काल में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने वाला था उस अचिन्त्यशक्तिमद्ब्रह्म को वैदिककाल के ऋषि जानते थे, इसीलिये उन्होंने यह वर्णन किया है कि:—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थ शासश्चरंति॥
ऋग्० १०।८२।७

तुम लोग उस अचिन्त्य शक्ति को नहीं जानते जिसने इस संसार को उत्पन्न किया है, क्योंकि तुम लोग अज्ञानी तथा अननुष्ठानी हो अर्थात् केवल मुख से ही बात बनाने वाले हो, और अपने इस प्राणधारी शरीर के पालन पोषण में लगे हुए केवल नाममात्र से उसकी स्तुति करते हो, इत्यादि मंत्रों में उस परमात्मा का वर्णन वेद में स्पष्ट रीति से आया है जिसने इस संसार को उत्पन्न किया है, फिर "यो देवानां नामधा एक एव" ऋग्० १०।८२।३ इस वाक्य ने यह स्पष्ट करदिया कि अग्नि आदि दिव्य शक्तियों के नाम से एकमात्र उसी परमात्मा का वर्णन किया गया है, इस प्रकार "अग्नि" शब्द स्पष्टतया ईश्वर का वर्णन करता है, उस समय इसी अग्निदेव=परमात्मा की उपासना प्रत्येक आर्य्य करता था, उपासना का प्रकार वेदों के सूक्तों को श्रद्धा से गायन करने का था, या यों कहो कि सन्ध्या वन्दन के समान प्रातः सायं दोनो कालों में ईश्वरोपासन प्रधान सूक्तों का पाठ किया जाता था, कोई सम्प्रदाय भेद इस युग में न था, इस युग में उस औषध के रस को पान करने वाले ऋषि लोग थे जिसमें राग द्वेष और संप्रदाय भेद का गन्ध भी न था, "देवेभ्य त्रियुगं पुरा" ऋग्० १०।९७।१=त्रेता, द्वापर तथा कलियुग, इन तीनो युगों को न्यून कथन करके इस प्रथम युग को प्रधान=सर्वोपरि माना है॥

यह वह समय था जब आर्य्यजाति त्रिविष्टप=तिब्बत देश में निवास करती थी, यहां बहुधा यह प्रश्न उत्पन्न हुआ करता है कि वह इतिहास की तिथि से कौन समय था अर्थात् उस युग को व्यतीत हुए कितना काल होचुका? इसका उत्तर यह है कि १७२८००० वर्षों का सतयुग, १२९६००० वर्षों का त्रेता, ८६४००० वर्षों का द्वापर और ४३२००० वर्षों का कलियुग है, इस संख्या के अनुसार उस समय को अब अर्वों वर्ष होचुके, यदि कोई आधुनिक शिक्षा के अनुसार उक्त संख्या में अविश्वासात्मा हो तो उसके लिये हमारे पास प्रमाण यह है कि भाषा तथा मन्तव्यों का परिवर्त्तन बहुत काल पाकर हुआ करता है अर्थात् इस समय और बुद्ध समय का अन्तर जब २५०० वर्ष का रखा गया है और बुद्ध से पहिले होने वाले पाणिनी आदि ऋषियों का समय तीनसहस्र वर्ष के लगभग कल्पना किया जाता है, अधिक क्या महाभारत का समय हिन्दू इतिहास के द्वारा इस समय से पूर्व चारसहस्र वर्ष के लगभग ठहराया जाता है, इसी प्रकार भाषाओं और मन्तव्यों के परिवर्तन से उपनिषदों का काल उससे चारसहस्र वर्ष पूर्व और उनसे ब्राह्मण ग्रन्थों का काल सहस्रों वर्ष पूर्व और ब्राह्मणों से वेदों का काल लाखों वर्ष पूर्व, इस प्रकार भी आर्यों की सभ्यता शताब्दियों की नहीं किन्तु विंशतिसहस्र वर्षों से भी ऊपर पाई जाती है, फिर कैसे कहा जासकता है कि आर्य्यसभ्यता अर्वाचीन है प्राचीन न थी।

इस विषय में समय के आगे पीछे की छान बीन करने वाले प्रोफेसर मैक्समूलर साहिब ऋग्वेद—दशवें मण्डल की भूमिका में यह लिखते हैं कि ऋग्वेद केवल आर्य्यजाति में ही सब से प्राचीन पुस्तक नहीं किन्तु मनुष्यमात्र के इतिहास में

सब से प्राचीन पाया जाता है, जैसाकि हम पूर्व लिख आये हैं।

इस विषय में हमें अन्य जातियों के समान तिथि पत्री के प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं किन्तु वेदों के सूक्त स्वयं अपने प्राचीन होने की साक्षी देते हैं, इस बात के प्रमाणित करने के लिये चारो वेदों में समानतया आया हुआ पुरुषसूक्त सिद्ध करता है कि प्राचीन आर्य्य लोग जब पुरुषमेध यज्ञ करते थे तब अविद्यारूपी पशुभाव को हनन करके मनुष्य में देवभाव उत्पन्न करते थे, जैसाकि "देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्" ऋग्० १०।९१।१५ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि विद्वान् लोग इस प्रथमयुग में जब यज्ञ करते थे तब पशुत्व विशिष्ट पुरुष को हनन करके अर्थात् उसकी काया पलटकर उसको देवता बना देते थे, जब अन्य जातियों में अपने २ प्रथम युगों में भेड़ बकरी के बलिदान देने का समय था तब आर्यों के यहां प्रथमयुग में राक्षस और पिशाचों का कलेवर बदलकर देवता बनाने का समय था।

यहां अत्यन्त खेद के साथ लिखा जाता है कि इन सूक्तों के मर्मों को न समझते हुए स्वदेशी और विदेशी बहुधा यह लिख बैठते हैं कि वैदिककाल में पुरुषमेध करने की प्रथा थी अर्थात् मनुष्य का बलिदान प्रथम समय में आर्य्य लोग करते थे, उनका यह कथन सर्वथा भ्रान्तियुक्त है, कारण यह है कि जब इस पुरुषसूक्त में वसंतऋतु को घृतादि, ग्रीष्मऋतु को समिधा और शरदऋतु को हविष्यस्थानी मानकर इस विराट पुरुष के यज्ञ को पूर्ण किया है तो फिर यहां मनुष्य वा पशु की बलि देने का क्या काम ? इस सूक्त की आदि से अन्त तक रचना देखने से प्रतीत होता है कि यह सूक्त अलंकार द्वारा चारो वर्णों को वर्णन करता और अलंकार से ही विराट पुरुष

के यज्ञ का वर्णन करता है अर्थात् भौतिक यज्ञकर्त्ताओं को यह चेतावनी देता है कि आध्यात्मिक यज्ञ ही सर्वोपरि है, इसी प्रकार वेद में जो यज्ञों का वर्णन है वह आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक रूप से है अर्थात् जिन यज्ञों में आत्मा का संस्कार किया जाता था उनका नाम "आध्यात्मिक" जिनसे शरीर तथा इन्द्रियों का संस्कार किया जाता था अथवा जल वायु आदिकों की शुद्धि कीजाती थी उनका नाम "आधिभौतिक" और जिनसे सूर्य्य चन्द्रमादिक दिव्य शक्तियों का ज्ञान उपलब्ध किया जाता था उनको "आधिदैविक" यज्ञ कहते थे, अधिक क्या इस प्रथमयुग में यज्ञसम्बन्धी पूजा से भिन्न अन्य कोई पूजा नहीं होती थी, और नाही आजकल के समान नाना प्रकार के देवी देवता पूजे जाते थे, देव नाम विद्वानों अथवा दिव्य शक्तियों वा सर्वोपरि परमात्मा का नाम था किसी मृण्मय वा पाषाणमय अथवा किसी धातु से निर्मित वस्तु का नाम उस समय देव न था, जैसाकि इस मंत्र में वर्णन किया गया है कि:—

परो दिवा पर एना पृथिव्या परोदेवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥

ऋग्० १०। ६। ५

जो शक्ति द्युलोक तथा पृथिवी लोक से भी परे है और जो विद्वान् तथा असुरों की इन्द्रियों से भी अगोचर है उस शक्ति ने पहले किस वस्तु को गर्भरूप से धारण किया ? इसका उत्तर आगे के मंत्र में यह दिया है कि उसने पहिले आपः=सूक्ष्म वाष्परूप प्रकृति को गर्भरूप से धारण किया, इस मंत्र के उत्तरार्द्ध में यह लिखा है कि " अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुव-

नानि तस्थु" ऋग्० १०।८२।६=एक अजन्मा अविनाशी परमात्मा के नाभि=बन्धनरूप शक्ति में प्रकृति की यह सब रचना विराजमान थी जिसमें अब सब भुवन ठहरे हुए हैं, वेद की इस प्रतीक से स्पष्ट प्रतीत होजाता है कि ऋग्वेद के समय में एक अविनाशी परमात्मा ही सर्वाधार माना जाता था, वेद के इन भावों से ही "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" श्वेताश्व० = एक देव जो सब भूतों के अणु २ में रम रहा है वही सब भूतों का अन्तरात्मा = परमात्मा है, इस प्रथम युग में यही सब से बड़ा देव था और इसी एकमात्र देव की उपासना यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करके ईश्वर को वर्णन करने वाले प्रधान सूक्तों को पढ़कर उस ब्रह्म की उपासना किया करते थे।

यह हम पूर्व लिख आये हैं कि इस युग में मनुष्यों की सृष्टि केवल उत्तरीय हिमालय के आस पास ही थी, क्योंकि तिब्बत से सृष्टि के भूमण्डल में फैलने में भी लाखों वर्षों का अन्तर होना चाहिये, इससे भी सृष्टिरचना अल्पकालिक सिद्ध नहीं होती।

और जो लोग यह सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में गंगा वा यमुना का नाम न आने से ज्ञात होता है कि यह मण्डल उस समय का बना हुआ है जिस समय आर्य्य लोग सिन्धु नदी के आस पास रहते थे ? उनसे प्रष्टव्य यह है कि जहां उक्त मण्डल में समुद्र का नाम और उसमें जहाज़ चलाने का वर्णन आया है तो क्या इस मंडल के निर्माण काल में एक ही बार आर्य्य लोग समुद्र तक पहुंच गये थे, यह सब कपोलकल्पनायें उन लोगों की हैं जो संस्कृतसाहित्य के अल्पश्रुत हैं, या यों कहो कि जो दो चार शब्द देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं उन लोगों के ऐसे विचार होते हैं बहुश्रुत पुरुषों के

नहीं, अधिक क्या वेद सम्पूर्ण विद्याओं का भाण्डार होने से उसमें जल स्थल की तो कथा ही क्या द्युलोक तथा अन्त-रिक्षस्थ विद्याओं का भी वर्णन है।

और जो ग्रहों के एक राशी में आने से महाराज तिलक वेदों का एकविंशति के लगभग समय ठहराते हैं, यह विचार भी वेदों की रचना के आगे तुच्छ है, जैसाकि:—

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
ओक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयंत ॥
ऋग्० १० । ५२ । ६

इस मन्त्र में वर्णन किया है कि तीनसहस्र तीनसौ नो ग्रह सूर्य्य के आसपास अर्वों वर्ष में आते हैं और यह आदिसृष्टि में ही ऐसी रचना होती है अन्यथा नहीं, और इस प्रकार की सृष्टि हिमालय आदि की रचना से भी सिद्ध होती है अर्थात् कोई भी पदार्थवेत्ता = (Science) का जानने वाला यह कहने को समर्थ नहीं कि हिमालय की रचना दश बीस सहस्र वर्ष में हुई किन्तु करोड़ों—अर्बों वर्ष की यह रचना है, फिर कैसे कहा जासक्ता है कि यह सृष्टि बीस वा तीस सहस्र वर्षों से इधर की है।

जिन स्थानों को समुद्र ने बहुत नूतन काल में छोड़ा है और सैन्धव = नमक जिसका वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है, उस स्थान से समुद्र हटे हुए भी लाखों वर्ष व्यतीत होचुके फिर सृष्टिरचना को नूतन कैसे कहसक्ते हैं, अस्तु सृष्टि की प्राचीनावस्था का वर्णन करना हमारा यहां तात्पर्य्य नहीं किन्तु यह दिखलाना है कि प्राचीन वैदिक समय में आर्य्य लोगों की क्या दिनचर्य्या अथवा आचार व्यवहार था, सो हम संक्षेपतया प्रथम भी लिख आये हैं कि उस समय आर्य्य लोग यज्ञ द्वारा ईश्वर पूजा किया करते थे और यज्ञ

ही उनके आचार व्यवहार का एकमात्र साधन समझा जाता था, प्रत्येक द्विज प्रातः ब्रह्ममुहूर्त्त में उठकर अपनी आवश्यक क्रिया से निवृत्त हो अग्न्यागार में जाता था जो ईश्वरपूजा का मुख्य स्थान प्रत्येक घर में नियत था, उस स्थान में सन्ध्या, अग्निहोत्र, ईश्वर स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना करते थे, यह समय प्रथम युग से लेकर त्रेतायुग तक अनवच्छिन्न रहा अर्थात् उस समय से इस समय तक यज्ञकर्म में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जैसाकि बाल्मीकीयरामायण के अयोध्याकाण्ड में जहां ईश्वर की उपासना का वर्णन आया है वहां सर्वत्र यज्ञों द्वारा ही उपासना कीगई है, अधिक क्या, राम की पूज्य माता कौसिल्या ने अग्न्यागार = यज्ञ स्थान में जाकर ईश्वरोपासन के अनन्तर राम के राज्याभिषेक दर्शन की इच्छा की थी, परन्तु बनवास की आज्ञा प्राप्त कर जब राम उनके दर्शनों को महल में गये तब वह अग्निहोत्र कर रही थीं, जैसाकि बाल्मीकीय रामायण-अयोध्याकाण्ड में लिखा है कि:—

प्रविश्य तु तदा रामो, मातुरन्तःपुरं शुभम् ।
ददर्श मातरं तत्र, हावयन्तीं हुताशनम् ॥

जब राम माता के दर्शनों को अन्तःपुर में गये तब वहां माता को अग्निहोत्र करते देखा, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि उस समय आधुनिक मन्दिरों अथवा आधुनिक पूजाओं के समान कोई अन्य पूजा न थी, राज्याभिषेक समय राम को स्नान कराने के लिये जो जल मंगाये गये वह भी सागर वा गंगासंगम के थे इन आधुनिक तीर्थों के न थे जो आजकल हिन्दुओं में तीर्थों के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

और जो यूरप निवासी तथा तदनुयायी यह कथन करते हैं कि गंगा तथा यमुना का नाम आर्य्यों के प्राचीन साहित्य-

भाण्डार ऋग्वेद में बहुत कम आया है, यह कथन सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि जहां इनका प्रसङ्ग था वहां ही उक्त नाम आये हैं, इसी प्रकार सिन्धु, सरस्वती तथा शतद्रू आदि नाम आते हैं बार २ नहीं कहीं एक दो स्थानों में ही आये हैं, परन्तु हमतो इसके उत्तर में यह कहते हैं कि यह नाम संज्ञावाची नहीं किंतु यौगिक हैं अर्थात् जिसमें स्यन्दन पायाजाय वह " सिन्धु " जिसमें नाना प्रकार वक्रगति से बहना हो वह " शतद्रु " और जिसमें ज्ञान की प्रधानता पाई जाय उसका नाम " सरस्वती " है, यह नाम वेद में सुषुम्णा आदि नाड़ियों के प्रसंग में आये हैं जो योग की क्रियाओं के अभिप्राय से हैं, और जो लोग इससे यह अभिप्राय निकालते हैं कि जब आर्य्य लोग सिंधु नदी के किनारे आये तब वेद में " सिन्धु " नाम लिखा गया, जब शतद्रू = सतलुज के किनारे आये तब " शतद्रू " और जब सरस्वती के किनारे आये तब " सरस्वती " नाम लिखा गया, एवं शनैः२ गंगा, यमुना के नाम सब से पीछे आये हैं, यह शंका सर्वथा निर्मूल है जिसके हेतु यह हैं (१) जिन २ नदियों के किनारे आर्य्य लोग आये उन्हीं के नाम वेद में पाये जाते हैं तो फिर समुद्र का नाम ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में क्यों आया ? क्या कोई कहसक्ता है कि तिब्बत अथवा उत्तरध्रुव जो प्रामाणिक लेखकों ने आर्य्यजाति का प्रथम स्थान नियत किया है क्या उससे काव्य-काल के हनुमान के समान छाल मारकर एकदम समुद्रतट पर पहुंच गये ? (२) यदि पंजाब में ऋग्वेद बनने के कारण सिन्धु, सरस्वती आदि नाम वेद में आते तो शतद्रू तथा वितस्ता आदि नदियों का नाम भी ऋग्वेद के प्रथममण्डल में आना चाहिये था परन्तु वितस्ता जो पंजाब की प्रसिद्ध नदी है उस

का नाम ऋग्वेद के दशममण्डल में है और शतद्रू = सतलुज का नाम तृतीय मण्डल में है, इससे पूर्व कहीं नहीं, यदि ऋग्वेद का प्रथममण्डल पंजाब में बनता तो ऐसा विल्यय कदापि न होता (३) सरस्वती आदि नाम ऋग्वेद के दशममण्डल में पाये जाते हैं उनके विषय में हम पीछे स्पष्टतया वेद के यौगिक अर्थ दिखलाते हुए लिख आये हैं कि उक्त नाम वैदिककाल में नदियों के न थे किन्तु नाड़ियों के थे जो पीछे केवल नदियों के मान लिये गये हैं (४) यहां यह स्पष्ट करदेना भी उचित प्रतीत होता है कि " श्वेत तथा नील जल वाली गंगा यमुना जहां मिलती हैं उनमें स्नान करने वाला स्वर्ग को जाता है " इस प्रकार के लेख ऋग्वेद के परिशिष्ट में मिलाकर प्रयाग को वैदिक तीर्थ सिद्ध किया गया है, यह भी सर्वथा आधुनिक है वैदिक नहीं, इत्यादि युक्तियों से वेदों में इतिहास मानना तथा गंगा यमुना आदि नामों वाले ऋग्वेद के मंडलों का आगे पीछे शनैः २ लिखा जाना मानने वालों का मत सर्वथा मिथ्या है।

और जो कई एक लोग यह कहते हैं कि आर्य्य नाम किसान का है, वेदों के बनाने वाले वा मानने वाले खेती बाड़ी किया करते थे उन्हें उच्च कक्षा की बातें मालूम न थीं, वेदों में भी खेती बाड़ी की साधारण बातें पाई जाती हैं और हल, हल का जुआ तथा हलसम्बन्धी अन्य सब चीजों के नाम वेद में हैं जिससे सिद्ध होता है कि वेद आर्यों की सभ्यता समय के पुस्तक नहीं? इसका उत्तर यह है कि आर्य्य नाम ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले पुरुष का है, " अर्य्यस्य इमे आर्य्याः" इस निरुक्ति से ईश्वर के उपासक विद्वानों का नाम आर्य्य है, इसी अभिप्राय से निरु० ६।२६।२१ में लिखा है कि "आर्य्य ईश्वरपुत्रः" =

ईश्वर के पुत्रों को "आर्य्य" कहते हैं, यों तो सम्पूर्णभूमण्डल के मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं परन्तु उक्त वाक्य में परमात्मा की आज्ञा पालन करने वालों के अभिप्राय से पुत्र शब्द आया है और वह "आर्य्य" हैं अर्थात् जो परमात्मा की आज्ञा पालन करे उसको "आर्य्य" कहते हैं, इस प्रकार वेद में सर्वत्र "आर्य्य" शब्द विद्वान्, सदाचारी तथा ईश्वरीय आज्ञापालन करने वाले पुरुषों के लिये आया है, हल जोतने वाले प्राकृत मनुष्यों को वेद में कहीं भी "आर्य्य" शब्द का प्रयोग नहीं किया किंतु "ज्योतिश्चक्रथुरार्य्याय" ऋग्०१। ११७। २१ में आर्य्य=विद्वान् के लिये ज्ञानरूप ज्योति का प्रकाश कथन किया गया है, इतना ही नहीं किन्तु ऋग्० १०। ४८। ३ में यह कथन किया है कि मैंने दस्यु जाति को आर्य्य नाम नहीं दिया चारो वर्णों को आर्य्य बनाया है (१) जो वैदिक आज्ञा का पालन (२) विद्याप्रचार (३) सब प्राणियों की रक्षा (४) धनोपार्जन और धन की रक्षा (५) वैदिकधर्म की सेवा इत्यादि कर्म करते हैं उन्हीं को आर्य्य नाम दिया है, यदि आर्य्य=कृषिकर= किसान का नाम होता तो ऐसा क्यों कहा जाता कि मैंने आर्य्य नाम ब्राह्मणादि वर्णों वा श्रेष्ठों को दिया है, क्या इनसे भिन्न किसाननहीं बन सकते? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आर्य्य नाम वेद में श्रेष्ठ का है।

"आर्य्य" शब्द के अर्थ किसान करके जो लोग वेदों को प्राकृत लोगों की विद्या वा आर्य्यजाति को जंगली सिद्ध करते हैं वे अद्योपान्त वेदों का स्वाध्याय नहीं करते, एक आध मन्त्र को देखकर उसके मनमाने अर्थ करके ऐसे अनर्गल दोष लगाते हैं जिनका गन्ध भी वैदिकसाहित्य में नहीं।

हां कृषी विद्या का भी वर्णन विशेषरूप से वेद में पाया

जाता है पर इतने मात्र से आर्य्यलोग हालिक = किसान नहीं कहे जासक्ते, यही तो वेदों की ब्रह्माण्डभर की पुस्तकों में विशेषता है कि उनमें सब विद्यायें हैं, आदिसृष्टि में इस प्रकार की विद्याओं का आविर्भाव परमात्मा के प्रकाश से बिना कदापि नहीं होसक्ता।

देखो कृषि विद्या का इस प्रकार विशालरूप से वेद में वर्णन है, जैसाकि "शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्" ऋग्० ३। ५८। ४ = तुम्हारे लिये खेती कराने के साधन वृषभ, मनुष्य तथा लाङ्गल = हलादि सुखप्रद हों, इस स्थल में हल के सब साधनों का वर्णन है यहां तक कि फाल=फारा जो लोहे का एक साधन विशेष हल के नीचे लगाया जाता है उसका वर्णन भी है, यदि वेद अज्ञान के समय का बना हुआ माना जाय तो लोहे को ढालने तथा गलाने की विद्या आदिसमय के हालिक लोगों को कैसे ज्ञात हुई, यदि यह कहाजाय कि किसी एक स्थल में लोहे का नाम आजाने से वेद सर्वविद्याओं की कान = राशी कैसे कहाजासकता है, तो उत्तर यह है कि एक नहीं "त्रिंशच्छतं वर्मिणा इन्द्र साकं" = तीनसहस्र योद्धा एक २ इन्द्र = सेनापति के अधीन रहते थे, और वह सब योद्धा वर्मि = लोहे के कवचधारी होते थे, इस प्रकार युद्धविद्या, कृषिविद्या, नक्षत्रविद्या, भूगर्भ विद्या इत्यादि नाना विद्याओं का वर्णन वेद में है, या यों कहो कि वेद चौदह विद्याओं की राशी है॥

जो कई एक लोग यह कहते हैं कि समुद्र तथा समुद्र के रत्नों की विद्या का वर्णन वेद में नहीं? इसका उत्तर यह है कि "उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु" ऋग्० १०। १०६। ६ इस मन्त्र में अध्यापक तथा उपदेशकों को समुद्र के रत्नों के तुल्य कथन किया है, इस प्रकार समुद्र के

रत्नों का अनेक स्थलों में वर्णन पाया जाता है, अधिक क्या, ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही परमात्मा को रत्नों के धारण करनेवाला कथन किया है, फिर कैसे कहा जाता है कि वेदों में विविध विद्यायें नहीं ।

" सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू " ऋग्० १० । १०६ । ६ इस मन्त्र को निरर्थक मानकर कई एक वादियों ने वेद पर यह आक्षेप किया है कि " त्रयो वेदस्य कर्त्तारो धूर्त्त भाण्ड निशाचराः जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् "= वेदों का निर्माण धूर्त्त, भाण्ड तथा निशाचरों ने किया है, जर्भरी, तुर्फरी इत्यादि निरर्थक वाक्य पण्डितों के मन घड़न्त हैं, यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि जर्भरी तुर्फरी यह वाक्य निरर्थक नहीं किन्तु सार्थक हैं, जर्भरी के अर्थ भरण पोषण करनेवाला तथा तुर्फरी के अर्थ दोषों को हनन करने वाले के हैं और अध्यापक तथा उपदेशक सृण्या=कोड़ा=चाबुक के समान अपने शिष्यों तथा श्रोताओं के दोष दूर करके उन्हें सुशिक्षित करते हैं, यह अर्थ इस मन्त्र के हैं जिसके तत्व को न समझकर वेदाभ्यासशून्य लोगों ने वेदों को निरर्थक समझ लिया है ।

एवं कहीं गाड़ियों वा घोड़ों से प्रार्थना करना वा कहीं घोड़ों को यज्ञ के पवित्र नाम से वध करके उनसे नाना प्रकार के दूषित कर्मों का प्रचार कर भारतीयजाति को भवसागर में डुबाने का काम उक्त प्रकार के मिथ्यार्थप्रवर्त्तकों ने किया है जो सर्वथा त्याज्य है । यथा:—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वंतु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥

ऋग्० १० । १३ । १

इस मन्त्र के अर्थ सायणाचार्य्य यह करते हैं कि हे दो शकटो ! मैं तुम्हें ब्रह्म = वेद के साथ जोड़ता हूं, वह इस प्रकार कि तुम्हारे ऊपर सामग्री लादकर यज्ञकुण्ड में लेजाई जाय।

क्या कोई वेदज्ञ यह अर्थ करसकता है कि "वां" जो "युवां" के अर्थ देता है वह यहां दो गाड़ियों के सम्बोधन के लिये आया है किन्तु यह कहना पड़ेगा कि योग्यतानुसार "युवां" के अर्थ यहां दो पुरुषों के हैं, क्योंकि प्रकरण यहां चेतनों को सम्बोधन करने का है जड़ों को नहीं, क्योंकि इसके उत्तरार्द्ध में "शृण्वंतु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" आया है जिसके अर्थ यह हैं "कि वह अमृत के पुत्र सुनें"।

सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ यह हैं कि हे अध्यापक तथा उपदेशको ! मैं तुम्हें अनादि ब्रह्म=वेद के साथ जोड़ता हूं, जिसप्रकार सुयश शूरवीर के साथ जुड़ता है इसी प्रकार मैं तुम्हें वेद के साथ जोड़ता हूं, और जो लोग द्युलोक की विद्या को पाप्तकर दिव्य स्थानों में स्थिर हैं वह भी इस वेद के सदुपदेश को सुनें॥

इस प्रकार के सदुपदेशप्रधान मन्त्रों को जड़ गाड़ियों विषयक अर्थ करके वेद के साथ जोतने के अर्थ करना सर्वथा असंगत है।

एवं "न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः" ऋग्० ३। ५३। २३ इस मन्त्र से विश्वामित्र और वसिष्ठ का द्वेष सिद्ध किया है कि एक समय विश्वामित्र को वसिष्ठ के शिष्य बांधकर लेचले तो विश्वामित्र ने कहा कि तुम मेरे मन्त्रवेत्ता होने के महत्व को नहीं जानते और मैं इस लोभ से चुप हूं कि बोलने से मेरा व्रत कहीं भंग न होजाय, इसलिये इस लोभ से लोभी हुए मुझको तुम लेजारहे हो पर

याद रखो कि मेरा और वसिष्ठ का गधे घोड़े वाला अन्तर है अर्थात् मैं घोड़े के सदृश हूं और वह गर्दभ के समान है।

यह आशय सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र से निकाला है जो वेद के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि इस सूक्त के आद्योपान्त अवलोकन करने से यह भलीभांति ज्ञात होजाता है कि इसमें विश्वामित्र तथा वसिष्ठ का नाम तक नहीं।

वास्तव में बात यह है कि जो वेद मन्त्रों के ऋषि थे अर्थात् जिन २ ऋषियों ने वेदमंत्रों के गूढ़ाशय को सरल करदिया था उनके चरित्रों को उलटा सीधा बनाकर आधुनिक ग्रन्थों में कहानियें घड़ली गई हैं।

इतना ही नहीं वसिष्ठ वेश्यापुत्र था, इस प्रकार की मिथ्या कथाओं से वेद तथा पुराणों का अत्यन्त अन्तर होगया है अर्थात् "उर्वश्यां वसिष्ठः" के अर्थ यह होगये कि उर्वशी नामक वेश्या का पुत्र वसिष्ठ था, वास्तव में "उर्वश्यां वसिष्ठः"=जो उर्वशी = ब्रह्मविद्या माता की गोद में पला हो उसको वसिष्ठ= विद्या में अत्यन्त निवास करने वाला कथन किया है।

यहां यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि वसिष्ठ कोई व्यक्तिविशेष न था किन्तु यह शब्द यौगिक है अर्थात् जो कोई भी मातृवत् ब्रह्मविद्या से पुत्रवत् सुशिक्षित हुआ हो उसको वैदिक परिभाषा में वसिष्ठ कहते हैं, एवं सम्पूर्ण विश्व के मित्र को वेद में विश्वामित्र कहा है और "हरिश्चन्द्रोमरुद्गणः" इस वाक्य में विद्वानों के गण को हरिश्चन्द्र = अविद्यारूपतम के नाश करने वाला चन्द्रमा कथन किया गया है।

वैदिक युग में विद्या में वास करने वाला वसिष्ठ, सब का शुभ= कल्याण चाहने वाला विश्वामित्र तथा विद्वान् हरिश्चन्द्र समझा जाता था, हमारा यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि वसिष्ठ, विश्वा-

मित्र तथा हरिश्चन्द्र इत्यादि नाम जो महाभारत तथा रामायण में आते हैं वह कोई व्यक्तिविशेष न थे किन्तु तात्पर्य्य यह है कि वैदिक युग में गुणों के संबन्ध से यह उत्तम नाम थे, अर्थात् इस युग में "यथानाम तथागुणः" वैदिक नाम गुणों के अनुसार रखे जाते थे।

अन्य प्रमाण यह है कि जिसप्रकार "कृष्णाय देवकी पुत्राय" इस छान्दोग्य वाक्य में कृष्ण और था जो घोर ऋषि का शिष्य था और महाभारत के समय में जो पांडवों का नेता था वह कृष्ण और था, तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार प्राचीन काल में नाम रखने की प्रथा थी वह आजकल भी प्रचलित है परन्तु गुणों के अनुसार नहीं।

जैसे उक्त नामों के समझने में भूल हुई इसी प्रकार ऋग्० मण्डल १० सू० ८२ से ८४ में भी गोमेध तथा अश्वमेध के अर्थ समझने में अत्यन्त भूल हुई, इस स्थान में यह अर्थ लिये गये हैं कि जो सौत्रामणी यज्ञ में मद्य पीता है उसके लिये यज्ञकुण्ड में घोड़े, बैल तथा बकरे हवन किये जाते हैं, और इस के अर्थ वास्तव में यह थे कि जिसप्रकार पति के लिये गुणवती स्त्री यथायोग्य समझी जाती है इसी प्रकार यह भौतिकाग्नि = विद्युत् जो सब विद्याओं का पति है उसके लिये "चारुमतिम्" = श्रेष्ठ मति को उत्पन्न करे और उस अग्निविद्या के लिये घोड़े बैल मेषादि पशुओं का त्याग करे अर्थात् जिन२ कामों में उक्त पशु उपयोग में लाये जाते हैं उन सब में विद्युत् से काम लें, इन सूक्तों में पशुओं के बलिदान करने का कहीं भी विधान नहीं फिर न जाने इनसे अश्व वा गौओं का बलिदान कैसे निकाला जाता है।

इसी प्रकार ऋग्० १।१६२ के १२—१३ मन्त्रों से घोड़े को मारकर अश्वमेध करने वाले यह अर्थ निकालते हैं कि घोड़े

की पसलियां पृथक २ करके मांस उबाला जाता था, मांस के उबलने वा घोड़े को काटने का इस प्रकरण में नामतक नहीं, प्रमाणार्थ मंत्र यहां उद्धृत करते हैं:—

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥१२॥

मंत्र का भावार्थ यह है कि जो लोग वाजिनं = घोड़े की परिपक्वावस्था को देखते हुए यह कहते हैं कि सुरभिः = सुन्दर है और निर्हर = उससे यह आशा करते हैं कि यह युद्ध में शत्रुओं के हनन करने का साधन बने, और जो अर्वतः = गतिशील घोड़े से "मांसभिक्षामुपासते" = शत्रु के मांस भिक्षा की उपासना करते हैं तेषां = उनका अभिगूतिः = उद्यम, नः = हमको इन्वतु = प्राप्त हो।

इस मंत्र में यह विधान किया है कि वीर योद्धा लोग युद्धों में घोड़ों पर सवार होकर शत्रुओं का विजय करें, इसकी पुष्टि में प्रमाण यह है कि जहां से यह सूक्त चला है वहां से ही अश्व की बल, पुष्टि का वर्णन है उसके काटने वा मांस के खण्ड २ करने का कहीं भी वर्णन नहीं, और जो लोग इससे अश्व को मारकर अश्वमेध करने की विधि निकालते हैं वह सर्वथा मिथ्यार्थ करते हैं जिसके हेतु निम्नलिखित हैं:—

(१) "मांसभिक्षामुपासते" इस पद से जो घोड़े के मांस की भिक्षा मांगने का अर्थ निकाला जाता है वह मंत्र के तात्पर्य्य से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि संन्यासी और साधुओं के समान भिक्षा मांगना आर्य्यवर्त्त में बुद्ध के पश्चात् प्रचलित हुआ ह, यदि इसके अर्थ भिक्षा मांगना ही माना जाय तो इसमें उद्यम ही क्या? "अवगूतिः" शब्द जो उद्यम का वाचक है वह मांगने वाली भिक्षा के अभिप्राय से वेद में कहीं भी

नहीं आता किन्तु अलभ्य वस्तु का जो पुरुषार्थ से लाभ किया-जाता है उसी के अभिप्राय से वेद में आता है, (२) अन्य युक्ति यह है कि "यन्नीक्षणं मांस्पचन्या ऊखाया" ऋग्० १। १६२। १३ इस मंत्र में जो मांस वाले पात्रों का निरीक्षण कथन किया गया है जिसका तात्पर्य्य यह है कि जब यज्ञ का चरु डाले तब पात्रों का पहिले संशोधन करले ताकि किसी प्रकार से यज्ञ की उत्तम सामग्री में दुर्गन्धादि दोष उत्पन्न न हों, इससे स्पष्ट पाया जाता है कि यह प्रकरण घोड़े को मारकर अश्वमेध करने का नहीं किन्तु घोड़े को पालकर अश्वमेध करने का है जिसकी पुष्टि में अन्य प्रमाण यह है कि:—

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम् ।
अनागास्त्वंनोअदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वोवनतां हविष्मान् ॥
ऋग्० १। १६२। २२

अर्थ—पूर्वोक्त अश्व = घोड़ा जिसकी बल पुष्टि का वर्णन किया गया है और जिसके द्वारा युद्धों का विजय कथन किया है वह हमको सुगव्यं = सुन्दर गौओं के समूह, स्वश्व्यं = अश्वों के समूह, सब प्रकार की आयु तथा धन दे, अदिति = परमात्मा हमको निष्पाप बनाये और क्षात्रधर्म द्वारा अभ्युदयशाली करे, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां जीवित अश्व का वर्णन है मृत अश्व का नहीं ।

जिन लोगों ने इस सूक्त से यह सिद्ध किया है कि घोड़े के शरीर पर रेखा खींचकर उसी रेखा के चिन्ह से घोड़े को काटे, यह अर्थ सर्वथा मिथ्या है, और यह लिखना भी मिथ्या है कि घोड़े को मारकर यज्ञ करना ऋग्वेद में पाया जाता है, सत्य बात यह है कि जब वेदों के आशय को न समझकर वेदों पर टीका टिप्पण प्रारम्भ हुए तब लोगों ने

ऐसी २ कुरीतियों का वर्णन वेदों के आधार पर किया, फिर तो यहां तक इसका विस्तार हुआ कि घोड़े को काटकर उसकी बोटी २ अलग करके उससे देवताओं को तृप्त करना और यज्ञशेष का स्वयं भोजन करना, इस प्रकार घृणितभाव प्रधान कथा कथानकों की कोई सीमा न रही और वैदिकसमय के पश्चात् इस भयानक दृश्य ने ऐसा रूप धारण किया कि धर्मप्रधान कोई पुस्तक भी अश्वमेध = घोड़े को मारकर यज्ञ करने से ख़ाली न रही, और यह प्रथा यहां तक बढ़ी कि ऐसी २ मिथ्या कथायें कथकर रामायण और महाभारत में भी सम्मिलित करदी गईं और हिन्दूजनिता के हृदय में इस घृणितभाव ने ऐसा स्थान लाभ किया कि " वैदिकीहिंसा हिंसा न भवति " = वेद प्रमाणों द्वारा कीहुई हिंसा हिंसा नहीं होती, इसी के आधार पर वैध और अवैध यह हिंसा के दो प्रकार के भेद होगये, एक विधिपूर्वक और दूसरा वैदिक विधि से वर्जित, और इन सब भावों का मूलभूत एकमात्र वेद ही बतलाया गया, इसी प्रकार गोमेध तथा नरमेधादि यज्ञों की कथायें भी वेद के आधार पर रखी जाती हैं जिनका हम आगे के अध्यायों में समाधान करेंगे ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिना निर्मिते, वैदिककालिके इतिहासे-
अश्वमेधवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः

गोमेध

गोमेध—अश्वमेध यज्ञ के समान गोमेध के भी गो बलिदान के अर्थ किये जाते हैं जो सर्वथा मिथ्या हैं, सच तो यह है कि जब घोर वाममार्ग का समय था उस समय मद्य मांस के प्रचारार्थ गोमेध तथा अश्वमेधादि यज्ञों का भी वाममार्गियों ने प्रचार किया और उस प्रचार को वेदादि पवित्र पुस्तकों के टीकाओं में भरदिया, और सोम जो वैदिकसमय में एक पवित्र औषध का रस था उसको भी सुरा के रूप में वर्णन किया, इस विषय में हम पहले भी लिख आये हैं कि वैदिकसमय में जो सोम था वह सुरा = मद्य न था जिसमें प्रमाण यह है कि:—

यथा मांसं यथा सुरा यथाचा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥

अथर्व० ६ । ७० । १

अर्थ—हे स्त्री अथवा हे बालकों वाली प्राणधारी स्त्रियो ! तुम अपने बालक में मद वाले मन को मारकर शुद्धभाव से प्रेम करो अर्थात् जिस प्रकार ज्वारी जुए में, मद्यप मद्य में और मांसाहारी मांस में कुत्सित प्रेम करते हैं इस प्रकार तुम प्रेम न करो, यहां निन्दित प्रेम का निषेध और उचित प्रेम का विधान किया है, अस्तु—कुछ हो यहां जुआ, मद्य तथा मांस इन तीनों को एक कक्षा में रखा गया है जिससे उक्त तीनों का निषेध वेद को अभिप्रेत है, और अथर्व के उक्त मंत्र का भी यही तात्पर्य्य है, जिनको उक्त तात्पर्य्य में सन्देह है उनको हम वेदों की एकवाक्यता दिखलाते हुए अन्य प्रमाण से निरुत्तर करते हैं, जैसाकि:—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

ऋग्० १०। ३४। १३

अर्थ—हे मनुष्यो! तुम जुआ मत खेलो किन्तु कृषि = खेती करो और कृषि आदि विद्याओं से जो धन प्राप्त हो उसी में रमण करो, उसी में गौ तथा शुभ स्त्रियें आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त होगा, यही सर्व प्रकाशक परमात्मा का आदेश है, इस मंत्र में जुए का स्पष्ट निषेध है, क्योंकि इसको अथर्व वेद में सुरा तथा मांसादि निषिद्ध वस्तुओं के प्रसंग में पढ़ा है, इससे सिद्ध है कि वेद में मांस का निषेध है विधि नहीं, और जो यह कहा जाता है कि ऋग्वेद मण्डल ८ में गोमेध का वर्णन है, इसका उत्तर हम संक्षेप रूप से पीछे लिख आये हैं, और जिन लोगों का यह कथन है कि गोमेध = गौओं को बधकर यज्ञ करने का वर्णन वेद में विस्तारपूर्वक है उनकी सर्वथा भूल है, वेद में गौओं के मारने का वर्णन कहीं भी नहीं प्रत्युत वेद के सैकड़ों मंत्रों में गौओं को अघ्न्या = बध न करने योग्य लिखा है जिसमें प्रमाण यह है कि "गां मा हिंसीः" यजु० १३। ४३ = गौओं की हिंसा मत करो, इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट पाया जाता है कि गोमेध नाम गौओं के मारने का नहीं किन्तु रक्षा में तात्पर्य है और वेद में जहां २ "गो" शब्द आता है वहां सर्वत्र इसके अर्थ इन्द्रिय वा प्रकाश के हैं, इससे गोमेध का अर्थ गौओं का हनन करना सिद्ध नहीं होता, या यों कहो कि "गावो मेध्यन्ते यत्र स गोमेधः" = जहां इन्द्रियों को ज्ञान द्वारा पवित्र किया जाय उसका नाम 'गोमेध" है, अधिक क्या ऋग्० १। ११४। १० में जो "गोघ्न" शब्द आया है वह भी इस बात को सिद्ध करता

है कि गोघ्नादि दुष्ट जीव हमसे दूर रहें, इससे सिद्ध है कि "गोघ्न" शब्द गौओं की हिंसा के लिये कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ, और जो सायणाचार्य्य ने गोघ्न शब्द से रुद्र के शस्त्र का अर्थ ग्रहण किया है वह वेदाशय से सर्वथा विपरीत है, क्योंकि वेद में "रुद्र" शब्द दुष्टों को रुलाने वाले युद्धवीर के लिये अथवा प्राणों के लिये वा कई एक रुद्ररूपधारी वस्तुओं के लिये आया है पर गोवध करने वाले के लिये कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ ॥

हिन्दूधर्म की प्रथानुसार यजुर्वेद के प्रथम मंत्र में ही गौ आदि पशुओं की रक्षार्थ प्रार्थना कीगई है और परमात्मा को सब का रक्षक माना गया है फिर कैसे कहा जासक्ता है कि रुद्र का शस्त्र गोघ्न था।

तात्पर्य्य यह है कि गोघ्न नाम वैदिकसमय में दुष्ट दस्युओं का था जिनको सदा से दुष्ट समझा जाता था भला गोमेध यज्ञ में गोवध का क्या काम! और जो कई एक लोग यह कहते हैं कि बुद्धधर्म का प्रभाव जब हिन्दूधर्म पर पड़ा तब हिन्दुओं ने अपने पूर्व प्रचलित पशुहिंसा प्रधान यज्ञों को बदल कर उन्हें और रूप में वर्णन कर दिया, यह बात सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि यदि इस बात में अंशमात्र भी सत्य होता तो "वाल्मीकीय रामायण" आदि ग्रन्थों में ऐसा वर्णन न पाया जाता कि:—

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृति ॥

गौ मारने वाला बधिक, मद्यप, चौर और व्रत करके भंग करने वाला, इन चारों का प्रायश्चित्त होसक्ता है परन्तु कृतघ्न का प्रायश्चित्त नहीं होता।

भाव यह है कि वाल्मीकीय रामायण के समय में भी गोघ्न

शब्द प्रायश्चित्ती के लिये ही आया है अतिथि के लिये नहीं, और जो यह कहा जाता है कि "दास गोघ्नौ सम्प्रदाने" अष्टा० ३।४।२१ इस पाणिनीय सूत्र में गोघ्न शब्द अतिथि के लिये आया है, यह कथन गोघ्न को अतिथि सिद्ध नहीं करता किन्तु यह सिद्ध करता है कि इस शब्द की सिद्धि भी शब्द-सिद्धि के भाण्डार व्याकरण में है, और "गौर्हन्यते यस्मै स गोघ्नः" यह व्युत्पत्ति सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि इससे पूर्व जो गोघ्न शब्द वेद में आया है वह सम्प्रदान के अभिप्राय से नहीं आया किन्तु गौ को हनन करने वाले सिंहादि हिंसक जीवों के अभिप्राय से आया है, जैसाकि हम पूर्व ऋग्वेद के मंत्र से सिद्ध कर आये हैं।

सार यह है कि वेदों में "गो" शब्द कहीं प्रकाश के लिये, कहीं पृथिवी के लिये, कहीं सूर्य्यरश्मियों के लिये और कहीं इन्द्रियों के लिये, इत्यादि अनेक अर्थों में प्रायः प्रयुक्त हुआ है इसलिये इसके मुख्यार्थ यही होते हैं कि जिस यज्ञ में ज्ञानोपदेश द्वारा इन्द्रियें पवित्र कीजायं उसका नाम "गोमेध" है, इसी अभिप्राय से कृष्णजी ने गीता में कहा है कि:—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
गी० ४ । ३३

सब प्रकार के द्रव्यमय यज्ञों में ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है, इस तत्व को न समझकर "अधित्वचि गवां" ऋग्० ८।६७।२८ इत्यादि वाक्यों के यह अर्थ किये गये हैं कि गौ के उलटे चर्म में सोम को कूटे, वास्तव में इसके अर्थ यह थे कि इन्द्रियों का अधिष्ठाता जो मन है उसमें सोमरूप परमात्मा का ध्यान करे, क्योंकि "अधित्वक्" नाम यहां त्वगिन्द्रिय के भीतर रहने वाले अन्तःकरण का है उलटे चर्म का नहीं, इसी प्रकार पूर्वोत्तर

विचार करने से इन्द्रियों के पवित्र करने वाले ज्ञानयज्ञ का नाम गोमेध था जिसको भूलकर वाममार्ग के समय में गौ आदि पवित्र पशुओं की हिंसा का प्रचार होगया, और वह यहां तक बढ़ा कि "अध्वर" जिसका अर्थ ही अहिंसाप्रद है उसके अर्थ हिंसा के होने लगे, अन्यों की तो कथा ही क्या वैष्णव लोग भी वास्तविक पशु नहीं तो आटे का नकली पशु बनाकर यज्ञ में डालने लगे, इसी कारण वैष्णव पुराणों में लिखा है कि:—

पंच कोटि गवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च ।
एतेषां च नदि राशि भुंजते ब्राह्मणा मुने ॥

इत्यादि अनर्गल वाक्य बनाकर वाममार्ग के समय में अभक्ष्य भक्षण और अगम्यागमन का प्रचार कियागया, जब किसी ने इसके विरुद्ध प्रश्न उठाया तो उत्तर यह दियागया कि वेदों में अश्वमेध, गोमेध तथा नरमेधादि कई प्रकार के यज्ञ हैं, और सौत्रामणि यज्ञ में तो सुरापान का भी विधान है, जैसाकि हम पीछे लिख आये हैं, और सुरा पीने का मूलभूत वाक्य ऋग्० १०। ९२। १४ में "कीलालपे" रखा गया है जिसका अर्थ मद्यपान करने वाला किया जाता है, वास्तव में कीलाल नाम जल वा अमृत का है मद्य का नहीं।

और जो पशुयज्ञ की सिद्धि में ऋग्० १। ६१। १२ ऋग्० २। ७। ५ ऋग्० ५। २९। ७ ऋग्० ७। ८। ३ ऋग्० ६। १७। ११ ऋग्० ६। १६। ४७ ऋग्० ६। २८। ४ ऋग् १०। २७। २ ऋग्० १०। २८। ३ इत्यादि मंत्रों के प्रमाण देकर पशुयज्ञ को सिद्ध किया गया है वह सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि इन मंत्रों के मिथ्यार्थ करके पशुयज्ञ की सिद्धि में लगाये गये हैं, पाठक मिथ्यार्थ की सिद्धि में इनका पहला प्रमाण देखें जिसमें स्पष्ट लिखा है कि:—

"अमा ते तुम्रं वृषभं पचामि तीव्रं सुतं पंचदशं निषिंचम्"
ऋग्० १०। २७। २

हे इन्द्र! मैं तुम्हारे लिये तुभ्र=पुष्टि देने वाली, वृषभ=वीर्य्य बढ़ाने वाली ओषध पचासि=पकाता हूं, और प्रतिदिन एक २ पत्र बढ़नेवाली सोम ओषध का रस निकालकर तुम्हारे लिये बनाता हूं, इस मंत्र में योद्धा इन्द्र के लिये बलप्रद ओषध और सोमरस का वर्णन किया है किसी पशुविशेष का नहीं, जिसकी सिद्धि में हेतु यह है कि इसके उत्तरवर्ति मं० ३ में "वृषभा प्रब्रुवन्ति" इस वाक्य के अर्थ सायणाचार्य्य ने यह किये हैं कि वृषभ=बैल के समान विक्रम वाले कर्म को विद्वज्जन कथन करते हैं, यहां वृषभ के अर्थ बैल करना वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जब यहां अध्याहार करके अर्थ करना है तो फिर यह अर्थ क्यों न किये जायं कि पुष्टि के लिये वृषभा=बलदायक ओषधियों को विद्वान् लोग कथन करते हैं, क्योंकि बैल के समान अर्थ करके ऊपर से कर्मों की लंबी चौड़ी कल्पना करना वेद के अर्थ को बिगाड़ना है, वृषभ के ओषध अर्थ करने में कोष तथा धातु प्रत्यय का भी पुष्ट प्रमाण है, जैसाकि वृषु–सेचन अर्थ में उणादि प्रत्यय करने से "वृषभ" शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ "वर्षतीति वृषभः"=सिंचन करने वाले के हैं, ओषध भी पुष्टि द्वारा मनुष्य का बल वीर्य्य बढ़ाकर उसमें ओज का सिंचन करती है, इसीलिये वीर्य्यवर्द्धक होने से वैद्यक ग्रन्थों में ऋषभ और वृषभ का वर्णन है जिसको बृहदारण्यक भाष्य" में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

अन्य प्रमाण यह है कि इसी सूक्त के मं० ८ में गौवों की रक्षा का वर्णन किया गया है फिर इन्द्र के लिये गौ वा बैल के बलिदान की चर्चा ही क्या, और जो ऋग्० १०।२८।३ में यह कथन किया है कि "पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः"=हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न युद्धवीर! हूयमानः=तुमको

आह्वान करने वाले यजमान " वृषभां पचन्ति"=बल पुष्टि देने वाले अन्नों को पकाते हैं, " तेषा पृक्षेण " = उनके दान से आप पुष्ट होकर युद्ध करते हैं, यहां पशुओं के बलिदान का कोई चर्चा नहीं, यदि पशुओं के बलिदान का वर्णन इस प्रकरण में होता तो मं० ४ में जो लोमश, मृग, सिंह, मत्स, गीदड़ तथा सूकर का वर्णन है इनका प्रयोग भी बलिदान के अभिप्राय से होता परन्तु इनका प्रयोग उक्त अभिप्राय से न तो किसी टीकाकार ने किया है और नाही यह बात बुद्धि में आसक्ती है कि किसी युग में भी सिंह बराहादिकों का बलिदान किया जाता था तो फिर गौ आदि उत्तम पशुओं की क्या कथा, अस्तु—सिंह बराहादिकों का प्रसंग छोड़कर हम गोमेध विषयक दिये हुए प्रतिपक्षियां के प्रमाणों का खण्डन करते हैं, जैसाकि:—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥

ऋग्० ६।२८।६

इस मंत्र में उपदेश किया है कि आप लोग सभा समाजों में गावः = वाणियों को सभ्यता से स्नेह युक्त बनावें, और इस अर्थ को "भद्रवाचः" विशेषण सिद्ध करता है कि गो शब्द से यहां वाणियों का ही ग्रहण है किसी पशुविशेष का नहीं, क्योंकि इसी प्रसंग में यह भी कथन किया है कि घर को भी सुन्दर बनाओ, जहां घर, सभा आदि के संस्कारों का प्रकरण है वहां गौओं के बलिदान का क्या प्रकरण, अस्तु—सायणाचार्य्य इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि हे गौओ ! तुम बुद्धियुक्त होओ और अपने कृष शरीर को मोटा करो तथा घर को श्रेष्ठ बनाओ, तुम कल्याण करने वाली हो इसलिये तुम्हारा अन्न यज्ञ में श्रेष्ठ समझा जाता है, यहां कोई शब्द भी गौओं के

बलिदान का नहीं, हां इस मंत्रमें " वय " शब्द अवश्य विचार करने योग्य है कि इसके क्या अर्थ हैं, सायणाचार्य्य जो इसके यह अर्थ करते हैं कि यज्ञ में तुम्हारा अन्न श्रेष्ठ समझा जाता है तो क्या यहां गौएं ही अन्न शब्द का वाच्य हैं, क्या इसके यह स्पष्ट अर्थ नहीं कि तुम्हारा जो अदन = खाने योग्य दुग्ध है वह यज्ञ में श्रेष्ठ समझा जाता है, क्योंकि " अद्यतेऽयन्न "= जो खाया जाय उसका नाम " अन्न " है, यहां खाना भक्षण मात्र का उपलक्षण है अर्थात् भक्षण योग्य दूध यज्ञ में उपयोगी है, " बृहद्वो वय उच्यते सभासु " इस वाक्य से गौओं को अन्न मानकर जो यज्ञ में बलि देना पशुयज्ञवादियों ने सिद्ध किया है वह सर्वथा खेंच है, या यों कहो कि अर्थ का अनर्थ किया है, क्योंकि इससे प्रथम पांचवें मंत्र में यह लिखा है कि :—

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥

ऋग्० ६ । २८ । ५

इस मंत्रगत "गो" शब्द के कई अर्थ हैं, पहले गो शब्द के अर्थ सूर्य्यगतकिरणों के हैं, जो एक प्रकार का ईश्वरविभूति में भगः = ऐश्वर्य्य है, दूसरे गो शब्द के अर्थ वाणी के हैं अर्थात् सुसंस्कृत वाणियें परमैश्वर्य्य देती हैं, तीसरे गो शब्द के अर्थ धेनु के हैं जिनका दूध सोमरस का भक्ष्य है, इन तीनों प्रकार के अर्थों में से गो शब्द के अर्थ जो वाणी के किये गये हैं उन्हीं को सर्वोपरि माना है अर्थात् बाणी ही सर्वोपरि कामधेनु है, इसी अभिप्राय से शतपथ में कहा गया है कि "वाग्वै धेनुः"= वाणी ही धेनु है, जब इस प्रकार " गो " शब्द कई प्रकार के अर्थ देता है जिनमें कोई भी पद बलिदान के अर्थों का विधायक नहीं, फिर गो का अर्थ कैसे बलिदान योग्य माना जा

सकता है, गोमेध मानने वाले पशुयज्ञवादी इस भूल में पड़े हुए हैं कि जहां कहीं वृषभ शब्द पकाने अर्थ में आता है अथवा गो सम्बन्धी अन्न का कथन किया जाता है, इससे उन्हें बलिदान की भ्रान्ति होजाती है परन्तु वस्तुतः बात यह है कि " वृषभ प्रजां वर्षतीति वाति बृहति रेन इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः " निरु० ८। २२। २२ इत्यादि स्थलों में " वृषभ " नाम बादल वा उस औषध का है जो वीर्य्यवृद्धि करने वाली हो, इसीलिये वैद्यकशास्त्र में दो कंदों का नाम वृषभ तथा ऋषभ है जो वीर्य्यवर्धक हैं और जहां कहीं वृषभ के पकाने का वर्णन वेद में है वहां औषध के अभिप्राय से आया है किसी पशुविशेष के अभिप्राय से नहीं, इसीलिये बृहदा० ६। ४। १८ में यह लिखा है कि " य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो जायेत स मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयात् औक्षेण वा ऋषभेण वा "=जो यह चाहे कि मेरा पुत्र पंडित हो वह मांस=माष=चिकने मांसल=उड़दों के साथ पके हुए चावलों को उक्षा वा ऋषभ औषध के रस के साथ खाय, और जो उक्त वाक्य में मांस शब्द की आशंका कीजाती है जो किसी जीव के मांस का अर्थ देता है औषध का नहीं? इसका उत्तर यह है कि इससे पूर्व प्रकरण अन्न वा औषध को ही है, जैसाकि इससे पूर्व बृहदा० ६। ४। १७ में यह लिखा है कि "य इच्छेत् दुहिता मे पण्डिता जायेत स तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयात्"=जो चाहे कि मेरी लड़की पण्डिता होवे वह चावलों को तिलों के साथ पका कर खावे, यदि यह कहा जाय कि मांस शब्द के अर्थ चिकनी वस्तु मांसल=माष नहीं, तो उत्तर यह है कि " त्री यच्छता महिषाणामघो मास्त्री सरांसि मघवा सोम्यापाः " ऋग्० ५। २९। ८

इस मंत्र में "मा:" शब्द के अर्थ सायणादि भाष्यकारों ने मांस के किये हैं जो कहीं भी प्रसिद्ध नहीं, फिर मांस शब्द से योग्यता के बलद्वारा माषरूप अन्न के करलेने में क्या कठिनाई है, सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र के यह अर्थ किये हैं कि हे इन्द्र ! तू तीनसौ भैंसों का मांस खाजाता है और तीन तालाब भरा हुआ सोम पी जाता है फिर तेरे लिये वृत्र का मारना क्या दुष्करकर्म है, वास्तव में इसके अर्थ यह थे कि जो सूर्य्य तीनसौ ग्रह उपग्रहों को समेट कर अपने आप में सम्मिलित करलेता और भूलोक, अंतरिक्ष तथा द्युलोक इन तीनों जलाशयों के परमाणुओं को पी जाता है, इसके लिये वृत्र=मेघ का छिन्न भिन्न करना कौन बड़ी बात है, मुख्य प्रसंग यह है कि "महिष" शब्द जो यहां बड़े २ नक्षत्रों के लिये आया है उसका अर्थ भैंसा करना वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है, यह शब्द वेद में सर्वत्र पूज्य वा बड़े पदार्थ के लिये आता है अन्य के लिये नहीं, जब अगस्त्य के समुद्र पीने के समान अर्थवादों का वेद में नाममात्र भी नहीं तो फिर सोमरस से भरे हुए तीन तालाब पीने की क्या कथा, अस्तु—

इस मंत्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि "मा:" शब्द के अर्थ लोक तथा वेद में कहीं भी मांस के नहीं, इससे सिद्ध है कि घोर वाममार्ग के समय में गौ आदि पवित्र पशुओं का बलिदान कथन करके पशुबधरूप मिथ्या गोमेध का प्रचार कियागया है, वास्तव में गोमेध के अर्थ यह हैं कि "मेध्यन्ते प्रवित्रीक्रियन्ते यस्मिन् स गोमेधः" = जिसमें वाणियों का संस्कार किया जाय ऐसी विराटसभा का नाम वैदिककाल में "गोमेध" था॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिना निर्मिते, वैदिककालिके इतिहासे गोमेधवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः

नरमेध

जिस प्रकार अश्वमेध और गोमेध वेदमंत्रों के मिथ्यार्थ करके वेदों से सिद्ध किये जाते हैं इसी प्रकार "नरमेध" को भी वेदमंत्रों से सिद्ध किया जाता है, प्रोफेसर मक्समूलर साहिब अपने साहित्य के इतिहास में लिखते हैं कि वैदिकसमय के हिन्दू लोग जिस प्रकार पशुओं को मारकर बलिदान करते थे इसी प्रकार मनुष्य की बलि भी देवताओं को चढ़ाते थे, जैसाकि ऋग्० १०। ६०। १५ में लिखा है कि "अबध्नन् पुरुषं पशुम्" = पुरुष को पशु के स्थान में वध किया गया, इत्यादि वाक्यों के इस प्रकार अर्थ करके पुरुषमेध सिद्ध करते हैं, इस मंत्र के यथार्थ अर्थ तो हम पहले कर आये हैं, यहां सूचना मात्र इतना फिर कह देते हैं कि यह वाक्य पुरुष के पशुभाव को मिटाकर अर्थात् पुरुषनिष्ठ पशुता का वध करके उसमें देवभाव स्थापन करना बतलाता है, पुरुषसूक्त के पढ़ने वाले पण्डित लोग इस बात को भली भांति जानते हैं कि यहां पुरुषयज्ञ से तात्पर्य्य विराट् के वर्णन तथा विराट पुरुष में जो ऋतुपरिवर्तन द्वारा स्वाभाविक यज्ञ होरहे हैं उनको यह सूक्त वर्णन करता है, जैसाकि "वसंतोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मो इध्मः शरद्धविः" ऋग्० १०। ६०। ६ इस मंत्र में वर्णन किया है कि वसंत इस विराट यज्ञ का आज्य= घृत, ग्रीष्मऋतु समिधायें और शरदऋतु हविष स्थानीय है, भला इस ज्ञानयज्ञ में पुरुष को पशु मानकर वध करने का क्या काम, वेदार्थ के पूर्वोत्तर अनुसंधान करने से यह ज्ञात होता है कि वेदों के तत्वार्थ को न समझकर जब वेदों पर लोगों ने मन माने भाष्य किये तब पशुवध आदि अनेक कुरीतियें वेदों से सिद्ध कीगईं, ऋग्० ६। १७। ११ में सायणाचार्य्य ने इन्द्रदेवता के लिये तीनसौ भैंसे और तीन तालाब शराब देना माना है पर

वास्तव में यह मंत्र इस भौतिक सूर्य्य के महत्व को वर्णन करता है कि सैकड़ों भूगोल इसके सहारे पकते अर्थात् अपनी परिपक्का-वस्था को प्राप्त होते और इस भूलोक, अंतरिक्षलोक तथा द्युलोक, इन तीनों लोकों के जलाशय को सूर्य्य शोषण करता है, इस अभि-प्राय से तीन सरोवरों का पीना कथन किया गया है, इसी प्रकार ऋग० ५।२९।८ में भी तीनसौ महिष=महान् भूलोकों का सूर्य्य के चारो ओर भ्रमण करना और तीन तालावों का पीना कथन किया गया है जिसके अर्थ हम गोमेध विषय में कर आये हैं, यहां इतना और विशेष कह देते हैं कि "महिष" शब्द निघंटु में महन्नामों अर्थात् विस्तार वा आकार तथा प्रतिष्ठा से बड़े पदार्थों के नामों में पढ़ा गया है और "शत्" शब्द यहां अनन्तवाची है, इस प्रकार इसके अर्थ भी सूर्य्य के हैं, अधिक क्या आधुनिक टीकाकारों ने जो तीनसौ भैंसों के खाने वाला और तीन तालाब मद्य के पीने वाला इन्द्र देवता को लिखा है वह सर्वथा मिथ्या है।

इसी प्रकार "सोमस्य प्रथमस्य भक्ष्यः" ऋग० ६।२८।५ इस वाक्य में जो गौओं को सोम का भक्ष्य कथन किया है वहां भी यदि सोमरस न होता किन्तु इन्द्रादिकों के समान कल्पित देवता होते तो इसके अर्थ भी भक्षण करना ही किये जाते परन्तु अर्थ यह किये गये हैं कि गौओं के दुग्ध द्वारा सोमरस का संस्कार किया जाता है, इसलिये सोम को उपचार से भक्षक कथन किया गया है वास्तव में नहीं, इसी प्रकार यदि वेद में घोड़े के पकाने के अर्थ भी उपचार से भूलोक के परिपक्वावस्था को प्राप्त होने के किये जाते तो संगत थे परन्तु वहां इसलिये नहीं किये कि पशु-यज्ञवादियों को यह इष्ट था कि येनकेन प्रकार से पशुओं का हनन सिद्ध किया जाय ताकि मांस की प्राप्ति सुलभ हो, अन्यथा "गावो मर्तस्य विभ्रति यज्वनः" ऋग० ६।२८।४ इसके यह अर्थ

क्यों किये जाते कि याज्ञिक पुरुष की गौएं यज्ञ में बलिदान देने के लिये न हों किन्तु अन्यों की हों, इस मंत्र में गौओं का केवल विचरना लिखा है यहां वध आदि का कोई प्रकरण नहीं, तब भी अन्य की गौओं को बलिदान देने के अर्थ यहां खेंच से किये जाते हैं, कहां तक लिखें जहां कहीं ऋषभ, गौ तथा महिष इत्यादि शब्द आजाते हैं वहां पशुयज्ञवादियों को मारने से भिन्न अन्य कोई अर्थ नहीं सूझते, इसी अभिप्राय से " मांसभिक्षामुपासते " के अर्थ मृतक अश्व के मांस की भिक्षा मांगने वालों के किये हैं, इसी प्रकार " मांसपचन्या ऊखायाः " का अर्थ भी विधि प्रधान रखकर मांस पकाने वाली बटलोई को यज्ञपात्रों में गिना गया है, और वास्तव में वह निन्दा के अभिप्राय से आया है परन्तु मांसाहारियों के मत में मांसपूर्णपात्रों की रक्षा के अभिप्राय से यह कथन कियागया है कि तुम इनकी रक्षा करो ।

यहां यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि वेदों में जो मांस शब्द आता है वह मांसभक्षण निषेध के अभिप्राय से आता है विधि के अभिप्राय से नहीं, जैसाकि हम पीछे " यथा मांसं यथा सुरा " यह मंत्र लिखकर सिद्ध कर आये हैं, और जो लोग यह कहते हैं कि वैदिकयुग में जब कोई मांस खाता ही नहीं था तो निषेध कैसे किया ? इसका उत्तर यह है कि मांसभक्षी आसुरी भावों वाले लोग उस समय भी थे जिनको राक्षस वा दस्यु कहा जाता था, इसी अभिप्राय से अथर्व वेद में यह कथन किया है कि:—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितोनाशयामसि ॥

अथर्व० ८ । ६ । २३

जो मांस खाते तथा गर्भहत्यादि दोष करते हैं उनको यहां से दूर करो, इससे मांसभक्षण का निषेध स्पष्ट सिद्ध है, अस्तु–

यद्यपि नरमेध यज्ञ में मांस के विधि निषेध का कोई प्रयोजन नहीं तथापि मिथ्यार्थ के प्रसंग में और कल्पित देवताओं को बलि चढ़ाने रूप कुरीति वर्णन में मांस का विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, नरमेध के साथ इतने अंश में यह विषय अवश्य संगत है कि यह भी वरुणादि कल्पित देवताओं को बलि चढ़ाने के लिये कथन किया जाता है, इसके विधिवाद इस प्रकार हैं कि राजा हरिश्चन्द्र के एक रोहित नामक पुत्र था उसको विश्वामित्र ने वरुण के लिये बलि चढ़ाने को मांगा परन्तु हरिश्चन्द्र ने बलि के निमित्त देना स्वीकार नहीं किया, फिर एक ब्राह्मण का पुत्र जिसको नाम " शुनःशेप " था वह बलि देने के लिये लाया गया, इस मिथ्या कथा का बीज वेद बतलाया जाता है, जिसका उत्तर यह है कि " हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः " ऋग्० ८।३८।८ इस वाक्य में हरिश्चन्द्र कोई व्यक्तिविशेष नहीं माना गया किन्तु विद्वानों के गण का नाम यहां प्रकाशक होने और अविद्या का नाशक होने के अभिप्राय से "हरिश्चन्द्र" कहा है, " हरिः " तथा " चन्द्र " इन दो शब्दों का समुदाय " हरिश्चन्द्र " है, इन दोनों में समास का सुट् अर्थात् " स " होजाने से " हरिश्चन्द्र" बना, अस्तु–परन्तु जिस सूक्त के आधार पर यह नरमेध सिद्ध किया जाता है उसमें हरिश्चन्द्र का नाम तक नहीं, यह ऋग्० १।२४ सूक्त है जिसके प्रथम मंत्र के अर्थ यह हैं कि कोई पुरुष यह कथन करता है कि अमृतों में से मैं किस देवता का आराधन करूं जो मुझको फिर माता पिता के दर्शन करावे, नरमेध मानने वाले यह कहते हैं कि यह " शुनःशेप " नामक एक लड़का था जब वह यूप अर्थात् हनन करने वाले

यज्ञस्तम्भ के साथ बांधा गया तब उसने यह प्रार्थना की कि अब मुझे कौन यहां से छुड़ाकर पिता माता के दर्शन करावेगा, नरमेध मानने वालों के इन अर्थों में उनके कथनानुसार यह बड़ा विरोध आता है कि उन्होंने नरमेध की कथा में यह माना है कि सौ गाय लेकर उसके पिता ने उस स्तम्भ के साथ बध करने के लिये उसको स्वयं बांधा था, भला ऐसे पिता के दर्शन को वह कब प्रार्थना करता, और इस बात की पुष्टि में नरमेधवादी यह स्वयं मानते हैं कि उस स्तम्भ से छूटकर उसने अपने पिता को धिक्कार कहा, ज्ञात हो कि "शुनःशेप" यहां कोई पुरुषविशेष न था किन्तु एक विज्ञानी पुरुष का नाम "शुनःशेप" है, जिसके अर्थ यह हुए कि पुनर्जन्म को मानने वाला विद्वान् जिसको जीवात्मा के अविनाशी होने में अटल विश्वास है वह यह प्रार्थना करता है कि मैं इस शरीर के त्यागानन्तर भी माता पिता के दर्शन करूं।

दूसरी बात यह है कि इस अनादि अनन्त संसार के प्रवाह में जो मुक्त पुरुष मुक्ति से पुनः जन्म धारण करने की इच्छा करते अथवा मुक्ति की अवधि समाप्त होजाने पर माता पिता के दर्शन करने की प्रार्थना को उपचार से कथन करता हुआ परमात्मा इस मंत्र में यह उपदेश करता है कि तुम फिर संसार में जाकर माता पिता के दर्शन करो।

वेदभगवान की उत्तमता यह है कि उक्त सूक्त में "शुनःशेप" के पुरुष विशेष होने का कोई हेतु नहीं पाया जाता और नाही यह पाया जाता है कि "शुनःशेप" के शुनःपुच्छ और शुनःलांगूल यह दो भाई थे, नरमेधवादी यह मानते हैं कि शुनःशेप के उक्त दो भाई और भी थे, कई एक लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि शुनःशेप के अर्थ यह हैं कि जिसका शुनः=कुत्ते के समान शेप=गुप्ते-

न्द्रिय हो उसका नाम "शुनःशेप" जिसकी कुत्ते के समान पूंछ हो उसका नाम "शुनःपुच्छ" और जिसकी लंबी पूंछ हो उसका नाम "शुनःलांगूल" है, इनके इस मनमाने और घृणित अर्थ में यह दोष है कि कुत्ते के समान घृणित इन्द्रिय वाला पुरुष परलोक के गमनागमन को जान ही कैसे सकता है, क्योंकि परलोक यात्रा को तो विद्वान् ही जानसक्ता है मूर्ख नहीं, जैसाकि कृष्णजी ने गीता में भी कहा है कि हे अर्जुन! तुम परलोक यात्रा पर विश्वास रखते हुए पाण्डित्य की बातें करते और मूर्खों की तरह शोक करते हो, अस्तु—यह पाण्डित्य की कथा छोड़कर भी शुन पुच्छ और शुनःलांगूल के इनके मत में कुछ अर्थ नहीं बनते, यह दोनों शब्द पुनरुक्त होजाते हैं, क्योंकि पुच्छ और लांगूल एक ही पदार्थ का नाम है।

वास्तव में बात यह है कि परमात्मा ने इस सूक्त में जीव का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना कथन किया है, चाहे वह मुक्तिरूप अवस्था हो और चाहे पुनर्जन्मरूप अवस्था हो, इसमें आग्रह करने की आवश्यकता नहीं, हां यह अर्थ इस सूक्त का सर्वथा मिथ्या है कि किसी यज्ञस्तम्भ के साथ बांधे हुए लड़के ने यह प्रार्थना की कि तुम मुझे छुड़ाओ।

विश्वामित्र ने आकर बलि चढ़ाने को लड़का मांगा और उसके अजीगर्त्त पिता ने "शुनःशेप" को दिया, यह कथा इस सूक्त के देवता के नामों से निकाली गई है, क्योंकि इसके देवताओं में अजीगर्त्त, शुनःशेप और विश्वामित्र का भी नाम है, इसी प्रकार जो सूक्तों के देवता थे वही पौराणिक काल में आकर इन्द्रादि देवविशेष माने गये, इस बात को हम प्रमाण सहित अन्यत्र विस्तारपूर्वक लिखेंगे, यहां मुख्य प्रसंग यह है कि इस सूक्त में जो लड़के का बलिदान करना निकाला जाता है

वह सर्वथा मिथ्या है, इससे भिन्न नरमेध का कोई प्रमाण नहीं मिलता, हां यजुर्वेद के २४ वें अध्याय से जो लोग इस वाक्य को उद्धृत करते हैं कि "प्रजापतये पुरुषान् आलभते" यजु० २४। २९=प्रजापति देवता के लिये पुरुष और हस्तियों को आलभते=बलिदान करे, यहां भी पुरुष की बलि चढ़ाना तांत्रिक गोमेध और अश्वमेध के समान नहीं किन्तु इस वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि युद्ध का देवता जो प्रजापति है उसके लिये यहां बलिदान कथन किया गया है अर्थात् युद्ध के अनन्तर विजयी योद्धा लोग प्रजाओं के पति बनते हैं, इसलिये प्राजापत्य धर्म वाले पुरुष को यहां देवता कथन किया है और सन्मुख होकर प्राण देने वाले पुरुष तथा हस्तियों का बलिदान कथन किया गया है, इस प्रकार का बलिदान ईश्वर की आज्ञा के अनुसार सदैव होता रहता है इससे नरमेध की सिद्धि कदापि नहीं होती, वास्तव में नरमेध के अर्थ पुरुष को पवित्र बनाना है।

कई एक लोग इसके यह भी अर्थ करते हैं कि संन्यासावस्था में पुरुष अपने शरीर को बलिदान कर देता अर्थात् उस अवस्था में पालन पोषण का भार अंशमात्र भी नहीं लेता किन्तु दैवाधीन छोड़ देता है इसी का नाम नरमेध है।

और कई एक यह कहते हैं कि अन्त्येष्टिकर्म में जो शरीर का दाह घृतादि पदार्थों द्वारा किया जाता है उसी का नाम नरमेध है, कुछ हो अश्वमेध, गोमेध तथा नरमेध यह तीनों ही नूतन शब्द हैं चारो वेदों में कहीं नहीं पाये जाते, हां मन्त्रों का मिथ्या आशय लेकर घोड़े के मारने का नाम अश्वमेध और गौओं के मारने का नाम गोमेध एवं मनुष्य को बलिदान करने का नाम नरमेध रखागया है, यह वाममार्ग के समय की प्रथा है, जो २ मंत्र इस विषय में दिये जाते हैं उनकी समास=संक्षेप से हमने समीक्षा

की, व्यास=विस्तार से इतना यहां और लिखते हैं कि ऋग्० २।७।५ में जो यह कहा जाता है कि बन्ध्या गौ, बैल तथा गर्भिणी गाय जिसमें चार पांव बच्चे के मिलाकर आठ पांव होते हैं, इनका हवन करके अग्नि देवता को प्रसन्न किया जाता है, यह सब अर्थ का अनर्थ किया गया है, क्योंकि उक्त मंत्र में "वशाभिः" शब्द के अर्थ कमनीय = कामना पूर्ण करने वाली वाणी के हैं, और "उत्तभिः" = अमृत सींचने वाली "अष्टापदिभिः" आठ पद = स्थान रखने वाली जो वाणियें उनसे "भारता" = सदुपदेश द्वारा भरपूर कर देने वाला अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् का उक्त वाणियों से यज्ञ में आह्वान करे, वाणी को अष्टापदी इस अभिप्राय से विशेषण दिया गया है कि सात इन्द्रियों के द्वार और एक कण्ठ, यह सब मिलकर वाणी के आठ स्थान कहे जाते हैं, इसीलिये इसको अष्टापदी कहा है।

यहां घोर वाममार्ग के समय की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है जिसमें अष्टापदी के अर्थ यह किये गये हैं कि गर्भिणी गाय का भी बलिदान करे, क्योंकि चार पांव गाय और चार बच्चे के मिलकर आठ पांव होते हैं, जिस हिन्दूधर्म में भ्रूणहत्या सर्वोपरि पाप समझा जाता था उसमें वाममार्ग की लीला से गर्भवती गाय का मारना भी कोई पाप नहीं समझा गया, वेद में भी "गर्भान् खादन्ति केशवा०" इस मन्त्र में गर्भवती स्त्री का मारना महापाप लिखा है फिर जिस गौ को सहस्रों वेद मंत्र अघ्न्या=हनन न करने योग्य कथन करते हैं उसके मारने की विधि कथन करना घोर पाप में प्रवृत्त होना है।

और जो ऋग्० ६।१६।४७ के यह अर्थ किये जाते हैं कि हे अग्नि देव! बलवान् बैल तुम्हारे भक्षणार्थ हों, यह भी अर्थ का अनर्थ है, सत्यार्थ यह है कि हे तेजस्वी पुरुष! वीर्य्यवर्धक ऋषभ

ओषध तुम्हारे भक्षण के लिये हो ।

और ऋग्० १० । २८ । ३ में भी "वृषभ" ओषध का पकाना और खाना लिखा है जिसके अर्थ हम निरुक्त का प्रमाण देकर पीछे स्पष्ट कर आये हैं केवल निरुक्त ही नहीं किन्तु वेद वृषभ और उक्षा के अर्थ को यहां तक स्पष्ट करता है कि जिसमें कोई सन्देह शेष नहीं रहता, ऋग्० २ । १६ । ४ में यह लिखा है कि "वृषभ" अपने बल से प्रजा को सुसिञ्चित करने वाले योद्धा का नाम है, और इसी सूक्त के मन्त्र पांच में " वृषभान्नाय " पद ने यह स्पष्ट करदिया है कि बल को बढ़ाने वाला अर्थात् बल की वृष्टि करने वाला जिसका अन्न हो उसका नाम "वृषभान्न" है, एवं इसी सूक्त के छठे मन्त्र में " वृषभाण्यायुधा " लिखा है जिसके अर्थ सुख की वृष्टि करने वाले शस्त्रों के हैं, इसी प्रकार उक्षा को भी ऋग्० १ । १४७ । २ में बलसिंचन करने वाला माना है, अधिक क्या वृषभ, ऋषभ तथा उक्षा यह सब नाम वैदिककाल में बलिवर्द=बैल के न थे, केवल अमरकोषादि कोषों की कृपा से उक्त शब्दों के अर्थ बैल करदिये गये जिससे यहां तक अनर्थ होने लगे कि वेद में बलिवर्दों का पकाना लिखा है, जिसका खण्डन हम कई एक मंत्रों के उदाहरण देकर पीछे कर आये हैं ।

और जो ऋग्० १० । ८६ । १४ से यह सिद्ध किया जाता है कि इस मंत्र में गोमेध का स्थान वर्णन किया गया है अर्थात् जिस स्थान में गौओं की बलि दीजाती थी उस स्थान का वर्णन है, इसका उत्तर यह है कि इसी मंत्र के " यव्सने न गावः " पद के यह अर्थ हैं कि जैसे गौयें "यसने"=व्रजस्थान अर्थात् अपने एकत्रित होने वाले स्थान में इकट्ठी होती हैं, इसी प्रकार शूरवीर योद्धा लोग युद्ध समय में एकत्रित हों, इस

प्रकार समीक्षा करने से सिद्ध होता है कि बलिदान के निमित्त पशुओं के मारने की प्रथा प्रथमयुग=वैदिककाल में न थी, तदनन्तर शतपथादिकों के निर्माण काल में भी यह कुरीति न थी, इसी अभिप्राय से शतपथ कां० १३ में यह कथन किया है कि अश्वमेध वह कहलाता है जिसका उषाकाल शिर, सूर्य्य आंखें, वायु प्राण, अग्नि मुख, संवत्सर आत्मा, द्यौ पीठ और अंतरिक्ष उदरस्थानीय है, इस अलंकार से भी यह प्रतीत होता है कि विराट् के वर्णन का नाम अश्वमेध था किसी पशुयज्ञ प्रधान कर्म का न था, या यों कहो कि ऋग्० १। ६१। १२ में जो युद्ध के निमित्त वर्णन किया हुआ अश्व है उसी की प्रशंसा में उक्त अलंकार जानना चाहिये, कुछ हो वेद में नरहिंसा का कहीं भी नाम तक नहीं जिसको "नरमेध" कहा जाता है॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिना निर्मिते, वैदिककालिके इतिहासे नरमेधवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः

वैदिकसभ्यता तथा त्रिदेववर्णन

इस वैदिक इतिहास में वैदिकसमय की सभ्यता का वर्णन करना हमारा मुख्य प्रयोजन है, इसी अभिप्राय से हमने अश्व-मेध, गोमेध तथा नरमेध यज्ञों में घोड़ा, गौ तथा मनुष्य के मारने का निषेध किया है, क्योंकि कोई सभ्यजाति ऐसे घृणित यज्ञों के करने को श्रेष्ठ नहीं समझती, जिसका प्रमाण यह है कि "यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने" अथर्व० ६ । ७ । ७० । ६ इस मंत्र में स्पष्ट रीति से मांस, सुरा तथा जूआ को निन्दित माना है, फिर कब सम्भव था कि सुरा और मांस देवताओं को चढ़ाया जाता वा भोग लगाया जाता, यह सब उस समय की रचना है जिसको हम वाममार्ग के समय के नाम से कथन करते हैं, अस्तु—परपक्ष का निषेध करना ही हमारा लक्ष्य नहीं किन्तु अपने पक्ष का मण्डन करना हमारा मुख्य लक्ष्य है, आर्ष ग्रंथों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि आर्य्यजाति में वैदिकसमय से सामाजिक संगठन और सभ्यता चली आती है, इसीलिये वेद में ऐसे वाक्य बहुत हैं कि "सभ्य सभां नो पाहि ये च सभ्या सभासदः"=हे परमात्मन् ! आप हम सभ्यों की सभा का पालन करें, और जो उसमें सभ्य सभासद हैं उनका भी पालन करें, इसी अभिप्राय से ऋग्० ६ । २८ । ६ में यह कथन किया है कि " बृहद्वो वय उच्यते सभासु "=हमारी सभाओं में अन्न और अन्नमय पदार्थों को ही सर्वोपरि मानागया है, इसी अभिप्राय से शरीर को अन्नमय कोष कथन किया है, अस्तु-कुछ हो, " सभासु " इस प्रयोग से यह स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिकसमय में बड़ी २ विराट सभायें की जाती थीं और उस समय के लोग सभ्य थे ।

और जो लोग यह कहते हैं कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, यह चारो विभाग न थे और उस समय ब्राह्मणादि वर्णों को वर्णन करने वाले वेदमंत्र भी न थे, उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि वेद में "ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमः" अथर्व० ४। ६। १ "ब्राह्मणो न हिंसितव्यः" साम० का० ५ अ० ४ सू० १८ मंत्र ६ इत्यादि स्थलों में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण वर्ण के अभिप्राय से आया है अर्थात् जो पुरुष ब्रह्म=वेद का अध्ययन करता वा उसके तत्व का ज्ञाता है उस वर्ण वाले पुरुष का नाम यहां "ब्राह्मण" है, "तदधीते तद्वेद वा" अष्टा० ४। ५। ११ इस सूत्र से यहां अण् होजाता है जिसके अर्थ वेद को अध्ययन करने वाले वा उसके जानने वाले के होते हैं, इसी भाव को ऋग्० १०। ९०। १२ में यों वर्णन किया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र यह चारो वर्ण विराट पुरुष के मुख, बाहु, उरु तथा पाद इन चारो अंगों के समान हैं, इससे अधिक स्पष्टता का वर्णन चारो वर्णों के विषय में और क्या होसक्ता है, इससे स्पष्ट पाया जाता है कि आर्य्यजाति में ज्ञान, विज्ञान, धनरक्षा और सेवा यह चारो काम बटे हुए थे, अर्थात् ज्ञान की रक्षा करने वाले ब्राह्मण, व्यावहारिक पदार्थों के क्रिया कौशल से बाहुबल द्वारा देश की रक्षा करने वाले क्षत्रिय, व्यापार द्वारा धनरूप कोष को संचय करने वाले वैश्य और सेवा करने वाले शूद्र कहलाते थे।

और जिनका यह कथन है कि वैदिकयुग में यह वर्णव्यवस्था आर्यों में न थी, यह सूक्त सैकड़ों वर्ष पीछे बनाकर वेदों में मिला दिया है, उनका यह कथन सर्वथा निस्सार है, क्योंकि इस सूक्त की भाषा और ऋग्वेद की भाषा में अंशमात्र भी अन्तर नहीं, जैसाकि "सहस्रशीर्षापुरुषः"

एक ओर यह वाक्य और दूसरी ओर "सहस्रशृंगो वृषभः" वाक्य है, क्या इन दोनों में कोई अन्तर पाया जाता है ? जैसे आलंकारिक भाषा "सहस्रशीर्षा" में है अर्थात् सहस्र शिरों वाला यह विराट पुरुष है, इसी प्रकार "सहस्रशृंग" अर्थात् शृंग रूप किरणों वाला यह वृषभ=सूर्य्य है, "वृषभो वर्षणात्" पीछे उद्धृत किये हुए इस निरुक्त प्रमाण से वर्षा का हेतु होने के कारण सूर्य्य का नाम यहां "वृषभ" है, इसी प्रकार "सहस्रधारादि" कई एक शब्द वेद में इस ललित भाषा का अनुकरण करते हैं, फिर कैसे कहा जाता है कि भाषा के अन्तर से यह पाया जाता है कि यह सूक्त बहुत नया है, और जो यह कहा जाता है कि ऋग्० ८।११२।३ में यह लिखा है कि मैं सूक्तों का रचयिता हूं, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की पीसती, हम सब जुदे २ कामों से पृथक् २ हैं, इस प्रकार भिन्न २ काम करना कोई जातिभेद का खण्डन नहीं करता किन्तु भिन्न २ काम को वर्णन करता है जिसका वर्ण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, दूसरी बात यह है कि इस मन्त्र के यह अर्थ ही नहीं, अर्थ यह हैं कि हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से मैं कारु = कला कौशल में कुशल बनूं, भिषक = औषधियों की विद्यामें कुशल होऊं और नना=मेरी बुद्धि पत्थर पर तीक्ष्ण कीहुई असिधार के समान तीक्ष्ण हो, इससे वर्णव्यवस्था का खण्डन कैसे होसक्ता है, सच तो यह है कि वैदिकसमय में आर्य्यों में सामाजिक जीवन बहुत दृढ़ था, और उस समय जिसप्रकार ब्राह्मण वर्ण अर्थात् वेदों के ज्ञाता ऋषियों का महत्व वर्णन किया गया है इसी प्रकार ऋग्वेद में तीनहज़ार कवचधारी योधाओं का वर्णन है, जैसाकि:—

त्रिंशच्छतं वर्मिण इन्द्र साकं यव्यावत्यां पुरुहूत श्रवस्या ।
वृचीवन्तः शरवे पत्यमानाः पात्रा भिन्दाना न्यर्थान्यायन् ॥
ऋग्० ६ । २७ । ६

इन्द = हे शूरवीर सेनापते ! तुम्हारे साथ त्रिंशच्छतं = तीनसहस्र वर्मिण = कवचधारी योद्धा विद्यमान् हैं जो इस वेगवाली महति सेना में अवस्या = यश चाहने के लिये वृची-वन्त = तेजस्वी मुकुटों वाले हैं, और शरवे = शत्रुसेना का हनन करने के लिये पत्यमाना = विद्युत् के समान पड़ने वाले और पात्रा = परपक्ष के पात्र जो आकाशयान हैं उनको "भिन्दाना" = भेदन करने वाले हैं, न्यर्थानि = जिनके निश्चित अर्थ हैं अर्थात् जिनके मनोरथ कभी विफल नहीं होते वह आयन् = तुम्हारे साथ संगति बांधकर चलते हैं, इस मंत्र के गम्भीराशय को देखकर क्या कोई कहसकता है कि वैदिकसमय आर्य्यजाति में सामाजिक तथा सैनिक बल न था, किन्तु इस मंत्र की रचना से यह पाया जाता है कि कवच = जो शरीर को सुरक्षित रखने का एक साधन था वह वैदिकसमय में बनाया जाता और सैनिक लोग उसको पहनते थे, और यह भी पाया जाता है कि एक २ सेनाविभाग का नेता तीन२सहस्र योद्धाओं को साथ लेकर युद्ध करता था ।

यहां पर यह कहना भी असंगत न होगा कि वैदिकसमय की यह वीर जाति जो सच्चे कवच पहनती थी वह पौराणिक काल के मनोरथमात्र के कवच अर्थात् जादू टोना तथा मंत्र के कवचों को धारण करने वाली और जड़ देवताओं की सहायता से विजय चाहने वाली बनकर नष्ट भ्रष्ट होगई, नष्ट होती भी कैसे न जब कि वेद का सच्चा "वर्म" शब्द जिसके अर्थ "वृणोतीति वर्मन्" = जो शरीर की रक्षा करे उसका नाम "वर्म" है, ऐसे सच्चे रक्षक का नाम वैदिकसमय में "कवच" था और "कं वातं वंचतीति कवचः" इस व्युत्पत्ति से उसके यही अर्थ थे कि जो शरीर में वायु आदिकों का भी प्रवेश न होने दे

उसका नाम "कवच" है, वैदिकसमय की सभ्यता इस बात को सिद्ध करती है कि उस प्रथमयुग में ऐसे सच्चे कवचधारी योद्धाओं को नाम "वर्मा" था, इस वर्म का वर्णन वेद के सहस्रों मंत्रों में आता है और यह लोहे से बनाया जाता था, ज्ञात होता है कि लोहा ढालने की विद्या उस प्रथमयुग में प्रचलित थी, इसी प्रकार ऋग्० ४ । २ । ८ में घोड़े के सुनहरी साज का वर्णन है, और ऋग्० ४ । ३७ । ४ तथा ऋग्० ५ । १९ । ३ में निषक का वर्णन है जो एक प्रकार का सुवर्ण का गहना था, ऋग्० ५ । ५३ । ४ में गले की माला तथा अन्य गहनों का वर्णन है, ऋग्० ५ । ५१ । ११ में पैर के गहनों का वर्णन है, इसी प्रकार शरीर के रक्षक कवच और मुकुटादि शिरोभूषणों का सर्वत्र वर्णन पाया जाता है, अधिक क्या रत्न, सुवर्ण, चांदी, सिक्का आदि अनेक प्रकार के धातु तथा उपधातुओं का वर्णन अनेकधा वेद में आया है, इस लेख से हम यह सिद्ध करते हैं कि वेदविद्या कला कौशल तथा कारीगरी से खाली न थी, और जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि वेदों के समय में सभ्यता न थी और नाही कोई विद्या पाई जाती थी, उस समय केवल पंजाब की पांच नदियों का ही ज्ञान था, जिस प्रकार वेदों के बनाने वाले आगे बढ़ते गये उसी प्रकार उनको अन्य बातों का भी ज्ञान होता गया, यह बात सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि वेदों में जल, स्थल, वन, पर्वत, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा भूलोक आदि सब लोकलोकान्तरों का वर्णन है, इसी लिये वेदों में सब प्रकार के नाम पाये जाते हैं, बहुत से सूक्त हिमालय की चोटियों का वर्णन करते हैं तो अनेक सूक्त समुद्र के उन्नत तरंगों का भी वर्णन करते हैं, एक ओर गुण कर्म से मानी हुई ब्राह्मणादि चार प्रकार की जातियों का वर्णन है तो दूसरी ओर पंचकृष्टी तथा पंचजन नामों द्वारा चारों

वर्णों से भिन्न पांचवीं दस्युजाति का भी वर्णन है, यदि मनुष्यों को ब्राह्मण और ऋषि होने का अधिकार था तो स्त्रियें भी वेदमंत्रों के ऋषि ताथा देवता होती थीं अर्थात् स्त्रीजाति के अधिकार किसी प्रकारभी वैदिक आर्य्यों में न्यून न थे, स्त्रियों को बड़े सत्कार से सम्बोधन किया जाता था, जिस ऋचा से अब घृणित सती की रसम निकाली जाती है वह ऋग्० १० । १८।७ है, जिसमें यह वर्णन किया है कि ये अविधवा स्त्रियें सबसे पहले घर को जायं, वहां "योनिमग्रे" शब्द है जिसका अर्थ अग्रे= सब से पहले योनिं=घर को आरोहन्तु = जायं, जिसके अवैदिक समय में अग्रे के स्थान में अग्ने बनाकर यह अर्थ किये गये कि विधवायें अग्ने = अग्नि में सती होजायं, इस प्रकार असभ्यता के भाव वेद के मिथ्यार्थ करके निकाले गये हैं, वेद के सत्यार्थ करने से यह प्रतीत होता है कि वैदिकसमय में सब प्रकार की सभ्यता थी, शिष्य गुरु का मान करता था और गुरु शिष्य को दीक्षित करके अपने समान बनाना चाहता था, स्त्रियें अपने पतियों का मान करती थीं और पति स्त्रियों का सत्कार करते थे, जब किसी जाति की सभ्यता का निरीक्षण करना हो तो उस जाति की स्त्रीजाति का सामाजिक मान समीक्षण करना परमावश्यक होता है, वैदिकसमय की स्त्रियों के मान की समीक्षा करने से प्रतीत होता है कि स्त्रियें मनुष्यों के साथ मिलकर यज्ञ, हवन तथा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना किया करती थीं, जैसाकि ऋग्० ५।२८। ३ में स्पष्ट विधान है कि स्त्री पुरुष दोनों मिलकर यज्ञादि कर्म करें।

एवं विवाह की पद्धति जो ऋग्वेद में पाई जाती है उसमें स्त्री पुरुष का समान अधिकार है अर्थात् दोनों की प्रतिज्ञायें समान हैं, इन प्रतिज्ञाओं से प्रतीत होता है कि वैदिककाल

में पुरुष एक ही पत्नी करसकता था, एककाल में बहुस्त्रियों से विवाह करने की प्रथा न थी, जैसाकि "समंजन्तु विश्वेदेवा समापो हृदयानि नौ" ऋग्० १० । ८५ । ४७ में वर्णन किया है कि हे विश्वेदेवा = यज्ञमण्डप में बैठे हुए विद्वान् पुरुषों तुम समंजन्तु = भलेप्रकार जानो कि नौ = हम दोनों गृहस्थाश्रम में एकत्रित रहने के लिये एक दूसरे का ग्रहण करते हैं, इस मंत्र में जो "नौ" यह द्विवचन पड़ा है इससे सिद्ध है कि वैदिककाल में एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री का विधान था, बहुत स्त्रियों से विवाह का विधान कदापि न था, एक पुरुष की अनेक पत्नियों की रीति अवैदिककाल में प्रचलित हुई है परन्तु इसको ऐतिहासिक काव्यकाल में भी सदाचार में नहीं गिनागया प्रत्युत निन्दित ही समझा गया है जैसाकि वाल्मीकीय रामायण आदिकों के देखने से स्पष्ट है, इसमें प्रमाण की आवश्यकता नहीं ।

जिसप्रकार ऐतिहासिक काव्यकाल में यह उपन्यास कल्पित लिखा गया कि द्रौपदी के पांच पति थे इसी प्रकार अनेक पत्नियों के करने की कुरीति अवैदिक सिद्धान्त लेखकों ने चला दी है, एवं "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं०" ऋग्० १० । ८५ । ३६ यह वाक्य भी स्त्री के सौभाग्य का सूचक है और वह सौभाग्य एक पति तथा एक पत्नि के होने से ही स्थिर रहसकता है अन्यथा नहीं, जिसप्रकार मृतभार्या पुरुष भाग्यहीन होजाता है इसी प्रकार मृतपति वाली स्त्री भी भाग्यहीन होजाती है इसी अभिप्राय से वेद में यह विधि है कि "हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ" ऋग्० १० । १८ । ८ = तुम्हारे पाणिग्रहण करने वाले पति का ही तुम में जायात्व है, यहां "दिधिषु" शब्द दुवारा पाणिग्रहण

करने वाले पुरुष के लिये आया है, और वह दुबारा पाणिग्रहण भी एक पत्नि के जीवित रहने पर विधान नहीं किया गया किन्तु " उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि " ऋग्० १० । १८ । ८ = जिस पुरुष की स्त्री मरचुकी हो वह विधवा-विवाह करसकता था, पत्नि के जीवित रहने पर नहीं, यह वैदिकसमय की सभ्यता थी ।

आर्यों की प्राचीन सभ्यता के लिये इससे बढ़कर अन्य पुष्ट प्रमाण और क्या होसक्ता है कि आर्य्यलोग विवाह विषयवासना से प्रेरित होकर नहीं करते थे किन्तु सौभाग्य = उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिये विवाह किया जाता था, यह पवित्र उद्देश्य वैदिकसमय में विवाह का था, जैसाकि "दशास्यांपुत्रानाधेहि" ऋग्० १० । ८५ । ४५ = तुम दश उत्तम पुत्र उत्पन्न करो परन्तु पति एक ही करो, इस मन्त्र में स्पष्ट है, ऐसा उद्देश्य सम्पूर्ण संसार की जातियों में अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता, यह वैदिकसमय की सभ्यता का ही अपूर्व महत्व था ।

और जो लोग वैदिकसभ्यता पर यमयमी सूक्त का दोष लगाते हैं वह इस सूक्त के आशय को नहीं समझते, सूक्त का आशय इस प्रकार है कि "यम" = काल वृद्धि-रूप "यमी" को भोगता है अर्थात् सब वस्तुयें वृद्धि को पाकर कालरूप पति से भोगी जाकर क्षीण होजाती हैं, इस भाव को ऋग्०—दशममण्डल में वर्णन किया है कि हे काल! तू वृद्धि की बाल्यावस्था जो तेरी भगिनी के समान है उसको मत भोग, जब वह वृद्धि पूर्णरूप से परिपक्व होजायगी अर्थात् अन्य स्थान में उत्पन्न हुई स्त्री जब पूर्णरूप से युवती होकर उस भोक्तारूप पूर्ण ब्रह्मचारी के समक्ष आवेगी तो कालरूप

ब्रह्मचारी उसका उपभोग करेगा, यह भाव इस सूक्त का है, इसी अभिप्राय से ऋग्० १० । १० । १३ में वर्णन किया है कि "अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षं"= हे यम ! अन्य गोत्र में उत्पन्न हुई स्त्री तुम्हारे साथ सङ्गम को प्राप्त हो, जिसप्रकार अन्य जाती की रज्जु घोड़े को तथा बेल वृक्ष को लिपट जाती है इसी प्रकार अगोत्र में तुम्हारा दम्पति रूप संयोग हो, एक गोत्र में नहीं, उक्त सूक्त में सगोत्र में विवाह करने का निषेध किया है, गोत्र के अर्थ यह हैं कि "गूयते येन तद्गोत्रम्"= जिससे किसी का कथन किया जाय उसका नाम "गोत्र" है, यह शब्द "गृ" धातु से बना है अर्थात् वेद ने नाभी सम्बन्ध में विवाह का निषेध किया है, इसी अभिप्राय से इस सूक्त में यह वाक्य आया है कि "अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः" ऋग्० १० । १० । ४ = अन्तरिक्षस्थ प्रकृति नाभि = हमारी उत्पत्ति का स्थान है अर्थात् प्रकृति से ही काल तथा वृद्धि दोनों उत्पन्न होते हैं; इस प्रकरण में वृद्धि तथा काल के अलंकार से बाल्यावस्था में विवाह करने का निषेध है अर्थात् बाल्यावस्था वाली कन्या के साथ विवाह करना मानो अपनी भगिनी के साथ विवाह करना है, इस भाव को इस सूक्त में बलपूर्वक वर्णन किया है।

इस प्रकार यह सूक्त समान गोत्र में विवाह करने का निषेध करता है जिसको भूलकर लोग बहिन भाई के विवाह विषयक वार्तालाप में लगाकर वैदिक सभ्यता को कलङ्कित करते हैं, कई एक लोग "यमयमी" के अर्थ दिन तथा रात्रि के करते हैं कि इस सूक्त में दिन रात के मिलने का भाई बहिन के समान निषेध किया है, यदि यह अर्थ भी माने जायं तब भी एक गोत्र में विवाह का निषेध स्पष्ट पाया जाता है।

इस सूक्त में भाई बहिन शब्द आये हैं जो इनके सम्ब-

न्ध का निषेध करते हैं, इससे भी पुष्टप्रमाण यह है कि "सा नो नाभिः" इस वाक्य द्वारा यह निषेध करदिया कि जहांतक एक गर्भ से उत्पन्न होने का सम्बन्ध है वहां विवाह सम्बन्ध नहीं होना चाहिये, वेदों में अन्य पुस्तकों की अपेक्षा विशेषता यह है कि इनमें लोकसम्बन्धी बातें स्पष्ट रीति से पाई जाती हैं अर्थात् अमुक स्त्री गम्या तथा अमुक अगम्या है, इस विषय का पूर्ण रीति से विधान वेदों में ही है, अन्य ग्रन्थ जो ईश्वर रचित बतलाये जाते हैं उनमें यह भाव स्पष्टतया नहीं मिलता।

वास्तव में यह यमयमी की कथा आदित्य की शक्तियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, जिनको प्रश्नोपनिषद् में "रयी" तथा "प्राण" कहा है वह यही दो शक्तियें हैं अर्थात् सूर्य्य से उत्पन्न हुआ कालरूप "यम" इस प्रजा का प्राणस्वरूप और सूर्य्य के तेज द्वारा उत्पन्न हुई जो वृद्धि है वह यमी = रयीरूप है, अधिक क्या, भाव यह है कि इस सूक्त में प्रकृति तथा पुरुषरूप शक्ति का वर्णन किया गया है अर्थात् इस सूक्त में गम्या तथा अगम्या विषयक वर्णन किया है कि नाभिसंबन्धोत्पन्न भगिनी अगम्या है और अन्य स्त्रियें भी जिनसे "नाभि" की समीपता का सम्बन्ध है उन्हें भी अगम्या माना है, यह उत्तमता वेदों में ही पाई जाती है और आदिसृष्टि में ऐसी २ सूक्ष्म बातों का विचार वेद में भलेप्रकार किया गया है, इसी प्रकार इस प्रकरण में नियन्ता होने से "यम" नाम मुख्यतया ईश्वर का है, क्योंकि ज्ञानी तथा विज्ञानी सब प्रकार के मनुष्य उसके नियम में रहते हैं और "पितर" = जो ज्ञानि पुरुष हैं उनका "यम" = सर्वनियन्ता परमेश्वर से घनिष्ट सम्बन्ध है, इसी अभिप्राय से परलोक का स्वामी "यम" को निरूपण किया गया है, और सर्वनियन्तृत्वरूप से "यम" राजा का भी नाम है।

तात्पर्य्य यह है कि कहीं राजा का नाम "यम" है, कहीं परमात्मा का नाम "यम" और कहीं विवस्वान के पुत्र का नाम "यम" है, इस प्रकार प्रकरण भेद से इसके अर्थों को समझना चाहिये, और जहां यम के दो कुत्ते वर्णन किये हैं वहां कुत्तों से तात्पर्य्य धर्म तथा अधर्म का है, और जो उन कुत्तों की चार २ आखें वर्णन की हैं उनका तात्पर्य्य यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह यह चार आखें अधर्म की और अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य्य यह चार आंखे धर्म की हैं, "श्वयति गच्छतीति श्वा" = जो कर्म गतिरूप से मनुष्य के साथ परलोक में जाते हैं उनको वेद में "श्वा" रूप से वर्णन किया है

और धर्माधर्म का अध्यक्ष=स्वामी होने से यम को स्वर्गलोक का देवता माना गया है वास्तव में यम कोई देवताविशेष नहीं किन्तु नियन्ता विशेष का नाम "यम" है, जैसाकि "यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन" ऋग्० १० । १४ । १५ इस मंत्र में वर्णन किया है कि तुम राजा यम के लिये आहुति दो, जिस प्रकार यहां यम राजा का नाम है इसी प्रकार यम यमी सूक्त में वृद्धि के स्वामी काल का नाम यम वर्णन किया है जिसको न समझकर कई एक टीकाकारों ने उक्त सूक्त में यम यमी के अर्थ भाई बहिन के करदिये हैं, इसी प्रकार वेद के कई सूक्त जो स्पष्ट रीति से उत्तम अर्थों के भाण्डार थे वह केवल दोषों के आगार बनादिये हैं, जैसाकि इन्द्रसूक्त जो परमैश्वर्य्य वाले योद्धा का वर्णन करता है उसको वृत्रासुर के मारने वाले देवताविशेष इन्द्र के अर्थों में लगादिया है, अधिक क्या, वेदविषयक अर्थों में यहां तक अनर्थ किया गया है कि इन्द्र देवता के सहस्राक्ष = सहस्र अक्षि और सहस्र भग माने जाने लगे, वास्तव में सहस्राक्ष नाम सूर्य्य का है, जैसाकि "सहस्रशृंगो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्" ऋग्० ७ । ५२ । ७

इस वेद मंत्र की प्रतीक से स्पष्ट सिद्ध है कि यहां " शृंग " नाम किरण का और अंतरिक्ष का नाम समुद्र है, इस प्रकार इन्द्र = सूर्य्य का नाम सहस्राक्ष था जो पौराणिककाल में आकर इन्द्रदेवता हुआ, और एक घृणित कथा कथकर यों वर्णन किया गया कि इन्द्र ने गौतम की स्त्री का सतीत्व नष्ट किया था इसलिये वह सहस्रभग होगया, इसी प्रकार इन्द्र, वृत्रासुर की कई एक कहानियें बन गईं जो वास्तव में वृत्र = मेघ के हनन करने वाले सूर्य्य विषयक थीं, क्योंकि " वृत्रो वै मेघ इति नैरुक्ताः " निरु० २। १६। २ इस प्रमाण से वेद में वृत्र नाम मेघ का था किसी दैत्यविशेष का नहीं, इसी वृत्र को सूर्य्य ने चवालीसवीं सर्दी में जाकर मारा, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्र में वर्णन किया है कि:—

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥
ऋग्० २। १२। ११

शरद ऋतु के चवालीसवें दिन इन्द्र = सूर्य्य ने शम्बर = मेघ को लाभ किया अर्थात् कार्तिक के दश दिन जाने तक मेघ हिमालय में रहते हैं फिर बाष्प होकर बरफ के आकार बन जाते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शम्बर वैदिककाल में मेघ का नाम था जो पौराणिककाल में आकर दैत्यविशेष बन गया, इस शम्बर की कथा कहानियें यहां तक बढ़ीं कि शम्बर की स्त्री माया मानी गई और यह माया पूर्व जन्म में रति = कामदेव की स्त्री थी इसका पति जो भस्म किया गया था वह प्रद्युम्न के रूप में आकर श्रीकृष्णजी का पौत्र बना, यह कथा जो वैदिककाल में प्रकृति के उच्चभावों का वर्णन करती थी अर्थात् प्राकृत मेघ वा अन्धकार को नष्ट भ्रष्ट करने वाला एकमात्र

सहस्राक्ष = सूर्य्य ही है उससे भिन्न ऐसी ओजस्विनी तथा तेजस्विनी कोई भी शक्ति नहीं, जिसका ऐसा विपर्यय हुआ कि रति की गति में यह सब कथा बदल गई, या यों कहो कि इस वैदिक भाव का शृङ्गार रस में उपयोग किया गया जो सर्वथा असंगत है।

इसी प्रकार वीररस का नाश करने वालीं कई कथायें इस वृत्र और इन्द्र के संवाद से बढ़ गईं, जिनको हम यहां बीजरूप से दिखलाकर वैदिकभाव का उल्लेख करेंगे, अधिक क्या, अहल्या तथा इन्द्र का संसर्ग जो अनाचार का भाण्डार है जिसको पुराणों में ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत किया गया है जो वास्तव में अहल्या नाम "रात्रि" और इन्द्र नाम "दिन" का था और जिसका भाव यह था कि रात्रि के रूप यौवन को दिनरूप सूर्य्य छिन्न भिन्न करके प्रकाश उत्पन्न करता है, परन्तु इस कथा को ऐसे बुरे भाव में लापन किया गया है कि एक दिन इन्द्र ने नदी के तट पर गौतम की स्त्री अहल्या को देखा और उसको देखते ही इन्द्र उस पर अनुरक्त होगया, उसके कुव्यवहार से कुपित होकर गौतम ऋषि ने इन्द्र को शाप दिया कि तू सहस्र भग होजा और ऐसा ही हुआ, जब इन्द्र इस निन्दित रूप वाला होगया तब उसने सूर्य्य की उपासना की जिससे वह सहस्राक्ष होगया, वास्तव में तात्पर्य्य यह था कि इन्द्र का नाम सहस्राक्ष था इसी कारण उसको सहस्र भग भी कहाजासकता था अर्थात् भग नाम ऐश्वर्य्य का है, जो सहस्र प्रकार के ऐश्वर्य्य वाला हो उसको "सहस्रभग" कहते हैं, इस इन्द्र=सूर्य्य का वृत्र के प्रकरण में ऋग्वेद में बहुत वर्णन पाया जाता है, जैसाकि हम प्रथमाध्याय में वर्णन कर आये हैं, इसी प्रकार सोम के विचित्र भावों तथा उसके अक्षय सुख से समुद्र के मथन करने की विचित्र कहानियें बनगईं, क्योंकि वेद में समुद्र नाम आकाश का था

उसी आकाश के मथन से पुराणों में सोमरसादि अनेक रत्न निकाले गये, और ऋग्० मं० १० सू० ८२ में वर्णन किया है कि प्रथम परमात्मा ने जल के गर्भ को धारण किया और उसी गर्भ से सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों की उत्पत्ति हुई, इस स्थल में वेद-भगवान् का आशय यह था कि अन्तरिक्षलोक जिसमें सब लोक लोकान्तरों के परमाणु स्थित हैं वह "समुद्र" है "सम्यग् द्रवन्ति भूतानि यस्मात् स समुद्रः" = जिससे भूतों की भली भांति उत्पत्ति हो उसका नाम यहां "समुद्र" है, जैसाकि वैदिक निघण्टु में अन्तरिक्ष, वियत्, धन्व, आकाश, आपः और समुद्र यह सब एक ही पदार्थ के नाम हैं, इसी कारण पौराणिक लोगों ने समुद्र मथन की कहानी बनाकर चौदह रत्नों की उत्पत्ति वर्णन की है जिनमें धन्वन्तरि भी एक रत्न हैं जो सब से बड़े वैद्य माने जाते हैं, इनकी सत्ता समुद्र मथन से पूर्व न थी और श्रीमद्भागवत में यह चौबीस अवतारों में गिने गये हैं परन्तु इस अवतार का नाम अमरकोष के कर्त्ता अमरसिंह ने अमरकोष में नहीं लिखा, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि धन्वन्तरि अमरसिंह के समकालीन थे अर्थात् जहां प्रतापी विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों की गणना कीगई है वहां स्पष्ट लिखा है कि:—

धन्वन्तरि क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटकर्पर कालिदासाः।
ख्यातोवराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

अर्थ—धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकू, वेतालभट्ट, घटकरपर, कालीदास, वराहमिहिर और वररुचि, उनकी सभा के यह नवरत्न थे, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि धन्वन्तरि अमरसिंह के समकालीन थे, इसी कारण अमरसिंह ने इनके नाम का उल्लेख नहीं किया, वस्तुतः यह ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त समुद्र के नामों में "धन्व" नाम भी आया है और वहअर्वाचीन काल में चिकि-

त्सा के साधनभूत यन्त्रविशेष का नाम भी बनगया था इसी नाम से मिलती जुलती धन्वन्तरि की उत्पत्ति भी समुद्रमथन से मानी गई जो अनुपयुक्त है।

प्रसङ्गसङ्गति से यह लिखना भी अप्रासङ्गिक नहीं कि जहां स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने बुद्धभगवान् के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए उनके सर्वज्ञत्व का खण्डन किया है वहां बुद्ध को अवतार नहीं माना इससे सिद्ध है कि बुद्धदेव को अवतार कथन करने वाला श्रीमद्भागवत शङ्कराचार्य्य से बहुत पीछे बना है, इस विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता यहां इसलिये पड़ी कि "अजस्य नाभा वध्येकमर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः" ऋग्० १०।८२।६ इस मंत्र में एकमात्र अजन्मा परमात्मा को सब लोकलोकान्तरों का आधार माना है अर्थात् वही अनन्त परमात्मा सब लोकलोकान्तरों की नाभि और सब विश्व के भुवन उसी में स्थित हैं, कोई देहधारी इनका आश्रय नहीं, इसी प्रकार इस दशममण्डल में सर्वभूताधिपति एकमात्र परमात्मा को ही वर्णन किया है, और अवतारों की प्रथा बहुत पीछे हिन्दूसिद्धान्तों में सम्मिलित हुई है।

इसी प्रकार पूर्वोत्तर समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिकयुग में "शम्बर" न कोई दैत्य था और न उसकी स्त्री कोई "माया" थी किन्तु जब भारतवर्ष में उपन्यासों की रचना का आरम्भ हुआ तब उक्त कहानियों का जन्म हुआ, जैसाकि "शम्बरस्य च या माया नमुचेरपि" पं० तं०= शम्बर तथा नमुचि दैत्य की माया को कोई नहीं जानता, इत्यादि कथन पौराणिक उपन्यासों के आधार पर बनाये गये हैं, वेद में केवल इतना ही भाव था, जैसाकि ऋग्०१।५३।७ में लिखा

है कि " निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् "=हे इन्द्र परमात्मन्! आप पीछा न छोड़ने वाले "नमुचि"=मायावी पुरुष को हमसे पृथक् करें, वैदिकसमय की सभ्यता में छली कपटी मनुष्यों का तिरस्कार सर्वत्र पाया जाता है इसी कारण उक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि "शम्बर" तथा "नमुचि" यह नाम वैदिकसमय में किसी व्यक्तिविशेष के न थे किन्तु गुणवाचक थे अर्थात् जिस पदार्थ में जो गुण पाये जाते थे वही पदार्थ उन नामों से कथन किया जाता था, जैसाकि मेघ वा अन्धकार में ढक लेने की शक्ति होने से इसका नाम " शम्बर " और मायावी पुरुष में छल कपट से ग्रस लेने की शक्ति होने के कारण इसका नाम "नमुचि" था, इन सत्यार्थ वाचक शब्दों से अर्वाचीन काल में मिथ्यार्थों का काम लिया गया इसीलिये शम्बर की स्त्री माया बनाकर रतिरूप से प्रद्युम्न की रमणी बनाली गई जिससे अनाचार की कथा कथकर भारतीय सभ्यता को कलङ्क का टीका लगाया जाता है।

इसी प्रकार वेद में "जमदग्नि" अग्नि वा प्रकाश का नाम था, जैसाकि "जमदग्निवत्स्तुवाना" ऋग्० ७। ८६। ३ में वर्णन किया है कि जो प्रकाश करता हुआ अग्नि के समान देदीप्यमान=तेजस्वी तथा ब्रह्मवर्चस्वी हो उसको " जमदग्नि " कहते हैं, वेद में जमदग्नि किसी "पुरुषविशेष" का नाम नहीं, जिस जमदग्नि को परशुराम का पिता बनाया गया है और जो शाप द्वारा क्षत्रिय के हाथ से मारा गया, यह पौराणिक कथा इस प्रकार गढ़ी गई है कि " रेणुका " जो जमदग्नि की स्त्री थी उससे संगम करते समय सूर्य्य ने आकर बाधा डाली तब जमदग्नि ने सूर्य्य को शाप दिया कि तुमको ग्रहण लगा करेगा

तभी से सूर्य्य को ग्रहण लगता है, इसी प्रकार बृहस्पति की स्त्री "तारा" के सतीत्व को चन्द्रमा ने नाश किया तब इसी प्रकार बृहस्पति ने चन्द्रमा को शाप देकर उसको कलङ्कित बना दिया, और बृहस्पति ने अपने छोटे भाई उतथ्य की गर्भवती स्त्री से संगम किया उससे दीर्घतमा ऋषि की उत्पत्ति मानी जाती है, इसी कारण बृहस्पति को यह शाप था कि तुम्हारी स्त्री को चन्द्रमा हरण करेगा, इस प्रकार एक दूसरे के साथ मन्द कर्मों तथा शापों की सङ्गति लगाकर वेदों के नाम पर मिथ्या उपन्यासों का विन्यास करदिया, जिनका नाम आज कल पुराण हैं यह सब इसी प्रकार के उपन्यास हैं, एवं गौतम तथा अहल्या का उपन्यास भी ब्राह्मणग्रन्थों को न समझकर उलटा ही कल्पना किया गया है, अहल्या गौतमऋषि की स्त्री थी जो शापवशात् शिलारूप होगई थी, उसका रामचन्द्रजी ने आकर त्रेता में उद्धार किया, यह कथा बहुत नवीन गढ़ी गई है, रामचन्द्रजी से प्रथम कोई गौतम ऋषि नहीं हुआ, यह कथा बाल्मीकिरामायण में शीलादित्य द्वितीय के पश्चात् मिलाई गई है, शीलादित्य द्वितीय को श्रीहर्ष भी कहते हैं, जिस गौतम का वर्णन पुराणों में पायाजाता है वह न्यायशास्त्र का रचयिता गौतम है इससे भिन्न रामचन्द्रजी के समय में अन्य कोई गौतम न था, मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वैदिक ऋषियों की उलटी सीधी कल्पनायें करके आधुनिक समय में अनेक अश्लील तथा सदाचार को नष्ट करने वाली कहानियें रचली गईं जिनमें पुरुषार्थ का गन्ध भी नहीं।

सत्य तो यह है कि वेदों का उपदेश जो सच्चे काव्य कथाओं द्वारा मनुष्यमात्र का कल्याणकर था जब वह आर्य्यजाति में से उठगया तब अनन्त प्रकार के मिथ्या काव्य

बनगये जो आर्य्यजाति के लिये अत्यन्त अहितकर हैं, इस अनर्थ की प्रवृत्ति को रोकने के लिये परमात्मा ने यह उपदेश दिया कि:—

" पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्तात् कविः काव्येन परिपाहि राजन् "

ऋग्० । १० ८७ । २१

हे राजन् ! आप उत्तम काव्य द्वारा प्रजा की रक्षा करें, काव्य के अर्थ यहां कवि के भाव के हैं अर्थात् कवि = सर्वज्ञ परमात्मा की जो कृति हो उसका नाम मुख्य "काव्य" है, और ऐसा उत्तम काव्य वेद ही होसक्ता है अन्य नहीं, इस उत्तम काव्य के तात्पर्य्य को न समझकर अन्य मनोरंजक उपन्यासों में पड़कर वेद के आशय से सर्वथा वञ्चित होकर उस बृहस्पति परमात्मा की रक्षा से सर्वथा अरक्षित होगये जिसकी रक्षा को वेद इस प्रकार वर्णन करता है कि:—

बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुतमध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥

ऋग्० १० । ४२ । ११

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का पति परमात्मा जो बृहस्पति नाम से प्रसिद्ध है वह हमको सब ओर से पवित्र करे, इत्यादि मन्त्रों के आशय को न समझकर इसी बृहस्पति को अन्य रूपक देकर देवताओं का गुरु बना लिया, जैसाकि हम पूर्व कई कथाओं के उदाहरण देकर वर्णन कर आये हैं कि तारा के पति को बृहस्पति मानकर और उसको ममता द्वारा शाप दिलाकर चन्द्रमा से बृहस्पति की स्त्री तारा का हरण कथन करदिया जो सर्वथा असङ्गत है।

जिसप्रकार स्त्री पुरुषों की मिथ्या कथायें मनोघड़ित

बनाकर वेद के आशय को लुप्त किया गया है इसी प्रकार मिथ्या मायावाद का उपदेश भी वेद से निकाला गया है अर्थात् " सुधया तदेकम् " ऋग्० १० । १२९ । २ इस वाक्य में सुधा = माया के साथ जो नाना आकारों को प्राप्त होरहा है वही ब्रह्म सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है अर्थात् आप ही उपादान और आप ही निमित्त कारण है और वही जीवरूप होकर सर्वत्र भोक्तारूप से नानाभावों को प्राप्त होरहा है, यह भाव भी वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि उक्त वाक्य में सुधा नाम प्रकृति का है माया का नहीं, इसी प्रकरण में आगे सलिल का वर्णन है और सलिल शब्द बहुनामों में पढ़ा गया है अर्थात् जो कारणरूप प्रकृति बहुतरूप होजाने वाली है उसका नाम यहां " सलिल " है, इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद मिथ्यार्थ का प्रतिपादक नहीं किन्तु इस संसार को वेद प्रकृतिरूप से सत्य कथन करता है, इसीलिये वेद में सर्वत्र ऐश्वर्य्य = अभ्युदय की प्रार्थना की गई है, क्योंकि वैदिकधर्म में अभ्युदय भी धर्म का अंग है और अभ्युदय = सांसारिक उन्नति को दुःखरूप मानना वेदानुयायियों के धर्म से सर्वथा विरुद्ध है, इसी अभिप्राय से गीता में ब्रह्मनिर्वाण का वर्णन किया गया है अर्थात् " ब्रह्म च तन्निर्वाणं च इति ब्रह्मनिर्वाणम् " = निराकार ब्रह्म का नाम यहां "ब्रह्मनिर्वाण" है अथवा ब्रह्म में लीन होकर निर्वाण = निवृत्ति = वैराग्य को प्राप्त होना है उसका नाम " ब्रह्मनिर्वाण " है, निर्वाण के अर्थ वैदिकधर्म में सर्वथा सत्तारहित अथवा शून्यवाद के नहीं, परन्तु जब वैदिकधर्म का ह्रास हुआ तब "निर्वाण" शब्द के अर्थ शून्यवाद के होगये, जैसाकि बुद्धदेव तथा बुद्ध के

अनुयायी भिक्षु मानते थे, इसी मत का नाम ब्रह्मवाद रखकर स्वामी शङ्कराचार्यजी ने प्रकाश किया और ऐश्वर्य्यप्राप्तिरूप वैदिक मुक्ति का खण्डन करके ज्ञानरूप अनुभवरहित मुक्ति का प्रतिपादन किया जिसका नाम तक भी वेद में नहीं अर्थात् निराशतावाद जिसको आधुनिक वेदान्ति एकमात्र अपनी मुक्ति का साधन बतलाते हैं परन्तु इस निराशतावाद = मिथ्यावैराग्य का वेद में गन्ध भी नहीं पाया जाता और नाही इस संसार को वेद ने मिथ्या प्रतिपादन किया है किन्तु इससे भिन्न "पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्" यजु० ३६। १४ इत्यादि मंत्रों में उक्त कथन बहुधा अभ्यासरूप से वर्णन किया गया है, और "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छत ँ समाः" यजु० ४०। २ = हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि हम लोग कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवें, और:—

मोषुणः सोममृत्यवे परादाः पश्येम नु सूर्य्यमुच्चरन्तम् ।
द्युभिर्हितो जरिमा सूनो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥

ऋग्० १०। ५९। ४

हे परमात्मन् ! आप मेरी मृत्यु से रक्षा करें ताकि मैं सदा चढ़ते सूर्य्य को देखूं, चढ़ते सूर्य्य के अर्थ यहां सदैव अभ्युदयशाली होने के हैं, इस अभ्युदय का वर्णन ऋग्वेद में ओजस्विनी भाषा में पाया जाता है जिसके आनन्द को स्वयं वेदवेत्ता ही अनुभव करसकता है अन्य नहीं, और यह आनन्द वेद में अक्षयज्योति के नाम से वर्णन किया गया है, और ऋग्० ९। ११३। ७ में यह वर्णन किया है कि हे परमात्मन् ! जिसके सहारे स्वर्ग = सुखविशेष है और जहां जन्म मरण नहीं उस अक्षयज्योति को मुझे प्राप्त करायें, यही अक्षयज्योति का आनन्द

वैदिकमुक्ति है, और मृत्युंजय के मन्त्र भी मृत्यु से मुक्त कर इसी आनन्द का वर्णन करते हैं कि हे " त्र्यम्बक " = सच्चिदानन्दस्वरूप ! मैं आपकी उपासना करता हूं आप मुझे मृत्यु से छुड़ाकर अमृत को प्राप्त करायें, जिस प्रकार " उर्वारुक "= खरबूजा पककर स्वयमेव लता से पृथक् होजाता है इसीप्रकार मुझे इस शरीर के बन्धन से पृथक् करें ।

पुराणों में जिसको अमृत नाम से कथन किया है वह यही " अक्षयज्योति " परमात्मा का आनन्द था और जिस अमृत का प्रलयकाल में अभाव कथन कियागया है वह भी यही अमृत था, जैसाकि " न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि " ऋग्० १० १२९ । २ इत्यादि वेदवाक्यों में वर्णन किया गया है कि उस काल में न मृत्यु थी और न अमृत अर्थात् मुक्ति का अक्षयज्योतिरूप आनन्द था ।

पाठकों को यह परस्पर विरोध अत्यन्त असह्य प्रतीत होगा कि " अमृत " = मरणरहित और फिर उसके साथ यह कथन कि मृत्यु भी न था, यह कैसे ? एवं अक्षयज्योति और फिर उसके साथ अक्षयज्योतिरूप आनन्द न था, यह परस्पर विरोध कैसे ? इसका उत्तर यह है कि " अमृत " शब्द अभिनिवेशात्मक मृत्यु के अभाव को कथन करता है कि जिस अवस्था में शरीरत्याग का भयरूप मृत्यु न हो उसका नाम अमृत है, और जिसमें मृत = मरण न हो उसका नाम यहां अमृत है, यह अवस्था मुक्तावस्था में ज्ञानी की होती है इस लिये मुक्ति का नाम अमृत है, और यह शब्द मुक्ति के आनन्द में योगरूढ़ है अर्थात् व्युत्पत्ति तथा रूढ़ी को "योगरूढ़" कहते हैं, केवल नाममात्र से यह मुक्ति के सुख को कथन नहीं करता,

जब मुक्ति एक अवस्थाविशेष है तो वह ब्रह्म के कूटस्थस्वरूप के समान नित्य नहीं, और मुक्ति निदिध्यासनरूप साधनजन्य है अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का अनुभवरूप जो साधन उससे मुक्तावस्था का आनन्द जीव को अनुभव होता है वह आनन्द वास्तव में ब्रह्म का है जीव का नहीं, इसलिये भी मुक्ति नित्य नहीं होसकती।

अन्य युक्ति यह है कि सर्वशक्तियुक्त परमात्मा के राज्य में विराजमान मुक्त पुरुष उसके नियन्तृत्वरूप सामर्थ्य से बाहर कैसे होसकता है, इसलिये भी मुक्ति नित्य नहीं अर्थात् जब ईश्वर उसको पुनः अभ्युदयरूप ऐश्वर्य्य देना चाहेगा तो वह उसको त्याग नहीं सकता, इसलिये भी मुक्ति नित्य नहीं, और जिन कर्मों का फल देहत्याग के समय तक नहीं मिला अभी शेष है उनका फल भी ईश्वर के नियमानुसार अवश्य मिलेगा, इसलिये भी मुक्ति नित्य नहीं, इत्यादि हेतुओं से यह कथन किया गया है कि "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि" अर्थात् एक काल अव्याकृत प्रकृति की अवस्था का ऐसा आता है कि जिस समय बन्ध तथा मोक्ष दोनों अवस्थायें नहीं रहतीं, उस समय जीव प्रकृतिलय होता है, इस विषय को हम आगे विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

प्रकृत यह है कि जो "अमृत" शब्द वेदों में मुक्ति के लिये आया है वह पुराणों में उस अमृत के लिये उद्धृत किया गया जिसको समुद्र मथन करके निकाला गया है, यहां यह भी स्मरण रहे कि यह समुद्र मथन की कहानी इसी अमृत को निकालने के लिये गढ़ी गई और इसका बिना विचारे इस आधार पर आरोप किया गया कि "समुद्र" नाम अन्तरिक्ष का था

और अन्तरिक्ष सलिल = जल से भरा हुआ माना जाता है अर्थात् परमाणुरूप जल सदैव आकाश में भरपूर रहता है उस समुद्र = अन्तरिक्ष का मथन जब सूर्य्य की तीक्ष्ण गरमी से होता है तब वर्षा होती और उससे नाना प्रकार के अमृतमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इस वैदिक आशय को न समझकर पुराणों में इस भूमिस्थ जलमय समुद्र का मथन करके अमृत, विष, लक्ष्मी, हस्ति तथा अश्वादि कई प्रकार के रत्नों का समुद्र से निकलना माना गया है, इन मिथ्या कथाओं के पीछे लगकर आर्य्यसन्तान ने वास्तविक अभ्युदयरूप अमृत की कान वेद भगवान को भुला दिया, अधिक क्या वेदों में इस अभ्युदय रूप अमृत का यहां तक वर्णन पाया जाता है कि ऋग० १०। २६। ६ में ऊनी वस्त्रों के बुनने का प्रकार वर्णन किया गया है और इसी स्थल में वस्त्रों का संशोधन तथा मार्जन करने का प्रकार भी वर्णित है, इत्यादि अनेकविध रत्न जो इस वेदरूप समुद्र में भरे पड़े थे उनको भुलाकर आर्य्य पुरुषों की सन्तान बौद्धधर्म से भयभीत होकर मुक्तिवाद जिसका दूसरा नाम बौद्धधर्म में निर्वाण है, इस अत्यन्तालीक मिथ्या मुक्तिवाद के पीछे लगकर अभ्युदय से सर्वथा वञ्चित होगई।

वेदों में अभ्युदय तथा निःश्रेयस का ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का है, अर्थात् दोनों परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं, इसी प्रकार सांसारिक ऐश्वर्य्य जो धर्मपूर्वक उपलब्ध किया जाता है वह ईश्वरसम्बन्धीयोग मुक्ति का सहायक है, इसी अभिप्राय से गीता में कृष्णजी ने वर्णन किया है कि "पश्य मे योगमैश्वरम्" गी० ११। ८ = हे अर्जुन! मेरे ईश्वर सम्बन्धी योग को देख, वह ईश्वरसम्बन्धी योग वेद के अनेक स्थलों में वर्णन किया गया है, और इसी का नाम अजस्रज्योति

है, अधिक क्या यह वेदरूप सागर अभ्युदय तथा निःश्रेयसरूप रत्नों से भरा पड़ा है जिनको हम अज्ञान के कारण निकालकर अनुभव नहीं करसकते, कारण यह है कि हमने अपने धर्म के वास्तविक स्रोत को नहीं समझा, आर्य्यधर्म जो इस समय हिन्दूधर्म के नाम से प्रसिद्ध है उसका एकमात्र आधार वेद ही है, यदि हिन्दूलोग अपने धर्म का निर्णय करना चाहें तो उन्हें वेद का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि वेद से पौराणिक समय के सब उलझन सुलझ सकते हैं।

"विष्णु" जिसकी अनेक कथायें पुराणों में पाई जाती हैं वह वैदिककाल में एकमात्र व्यापक ईश्वर का नाम था, और "रुद्र" जो कई एक अश्लील कथाओं के रूपक बांधकर पुराणों में निरूपण किया गया है वह वेद में शूरवीर योद्धा के रूप में वर्णन किया गया है अथवा सर्वप्राणों की उत्क्रान्ति का स्वामी जो देहधारी जीवात्मा उसको भी वेद ने कई स्थलों में रुद्ररूप से वर्णन किया है, इसी प्रकार चारो वेदों का ज्ञाता जो वैदिक "ब्रह्मा" था वह पौराणिक साहित्य में आकर ऐसा दूषित हुआ कि सर्वथा अपूजनीय होगया जिसका कारण यह बतलाया जाता है कि एक समय एक वेश्या ब्रह्माजी के समीप स्वयं उपस्थित हुई और ब्रह्माजी ने अपने ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से उसको त्याग दिया तब उस वेश्या ने उनको यह शाप दिया कि तू मेरा त्याग तो करता है परन्तु तू ऐसा निन्दित काम करेगा कि सम्पूर्ण लोक में निन्दित होजायगा और ऐसा ही हुआ, ब्रह्माजी अपनी पुत्री = स्वकन्या पर अनुरक्त होगये और इसी लाज से उन्होंने आत्महनन करके देह त्याग दिया, यह कथा प्रायः सब पुराणों में प्रकारान्तर से वर्णन कीगई है, ऐसी २ मिथ्या कथाओं का हिन्दूधर्म में उस समय प्रवेश हुआ

जब लोग वेदों को भूल गये, वेदों में ऐसी निन्दित तथा अश्लील कथाओं का गन्ध भी नहीं, ऋग्वेद–दशम मण्डल में ब्रह्माविषयक यह वर्णन पाया जाता है कि "तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः" ऋग्० १० । १०७ । ६ = मैं उसी को ब्रह्मा बनाता हूं जो स्वकर्मों में उग्र होता है, इस प्रकार ब्रह्मा एक पदवीविशेष थो और इसी प्रकार आर्यों में ब्राह्मणादि भी गुणकर्मानुसार एक प्रकार की पदवियें थीं जिनका नाम चार वर्ण था, और आर्य्य तथा दस्यु भी कर्मों के भेद से माने जाते थे, दस्यु कोई जातिविशेष न थी, जैसाकि यूरोप निवासी लिखते हैं कि इस देश के आदि निवासी जो काले वर्ण के थे वह "दस्यु" नाम से पुकारे जाते थे और आर्य्य वह थे जो देशान्तर से आकर पहले पहल यहां बसे थे, उनका यह कथन ऋग्वेद के पढ़ने से सर्वथा खण्डित होजाता है, जैसाकि "अकर्मा दस्युरभिनो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः" ऋग्० १० । २२ । ८ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया हैं कि जो अकर्मा = यागादि शुभकर्म नहीं करता "अन्यव्रतः" = ईश्वर से भिन्न पदार्थों की पूजा करता और जो अमानुषों के व्यवहार करता है उसका नाम "दस्यु" है, इस मन्त्र से स्पष्ट पाया जाता है कि वेद किसी जाति के पक्षपाती नहीं किन्तु गुण-कर्मानुसार मनुष्यों के ऊंच नीचादि भावों को वर्णन करते हैं, और यही भाव मनुस्मृतिकार ने लिया है, इसीलिये दश प्रकार के पुत्रों को दायभाग अर्थात् अपनी पैतृकसम्पत्ति का भागी माना है, और इससे भिन्न ऋग्० १०। ४९ । ३ में यह वर्णन किया है कि "अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्य्यं नाम दस्यवे"=मैं अज्ञान के नाशक ज्ञानरूप वज्र आर्य्य पुरुष को देता हूं दस्यु को नहीं, यहां "आर्य्य" के अर्थ सद्गुणसम्पन्न

पुरुष के हैं अनार्य्य के नहीं, अनार्य्य शब्द का वाचक यहां "दस्यु" शब्द है, इस प्रकार वेद में ईश्वर ने न्यायपूर्वक व्यवस्था की है जिसका पूर्ण विवरण हम पुरुषसूक्त के प्रमाणों से वर्णव्यवस्थाविषय में प्रतिपादन कर आये हैं।

इसी प्रकार स्त्री पुरुष के अधिकारों की व्यवस्था भी न्याय-पूर्वक वेद में पाई जाती है अर्थात् जिसप्रकार एक स्त्री के लिये एक पति का विधान है इसी प्रकार एक पुरुष के लिये भी एक ही स्त्री का विधान है अधिक का नहीं, और जो लोक में बहुपत्नियों का करना पाया जाता है वह अवैदिक है, क्योंकि वैदिकसमय में एक पुरुष के एक ही पत्नि होती थी जिसका वर्णन पीछे कर आये हैं यहां विशेष रीति से यह वर्णन करते हैं कि वैदिककाल में विवाह भी स्वयंवर की रीति से होते थे, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्र में वर्णन किया है कि:—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेषा स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥

ऋग्० १० । २७ । १२

कई एक स्त्रियें परमात्मा की स्तुति करती हुई वरों के साथ विवाही जाती थीं, और अन्य जो सद्गुण, शील तथा विद्यादि गुणों में उनसे ऊंची थीं वह स्वयं अपने मित्र = प्राण-प्रिय धर्मपति को वरती थीं।

जिस समय इतना उच्च विचार था उस समय विषयक यह आशङ्का करना कि आजकल के पशुविक्रयकल्प विवाह के समान विवाह होते थे सर्वथा असत्य है उस समय आर्य्यजाति में ऐसे विवाहों का स्वप्न भी या यह कथन भी दुःस्वप्न था अर्थात् उस काल में आजकल के समान विवाहों का कदापि प्रचार न था।

जो लोग वैदिकसभ्यता के समय बालविवाह वा वृद्धविवाह होने की आशङ्का करते हैं उनकी आशंका का आधार सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि " स्वयं सा मित्रं वनु ते जने चित् " उक्त मन्त्र में वर्णन किये हुए इस वाक्य से जब यह स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिककाल में स्वयम्वर होते थे तो फिर बाल वा वृद्ध विवाह की आशङ्का करना ही व्यर्थ है।

और जो कई एक लोग यह आक्षेप करते हैं कि वेद के उत्तरकाल अर्थात् दशममण्डल के अंत में एक पुरुष को कई स्त्रियों के साथ विवाह करना पाया जाता है? यह आक्षेप भी सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि अनेक स्त्रियों के साथ एक पुरुष के विवाह करने का कोई भी प्रमाण नहीं पाया जाता, विवाह-विषयक मन्त्रों में केवल एक स्त्री और एक पुरुष का ही विधान है, जैसाकि " गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः " ऋग्० १० । ८५ । ३६ इस मन्त्र में वर की ओर से उक्ति है कि हे वधु! मैं "सौभगत्वाय" = उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिये तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, इसी प्रकार पूर्वोक्त मन्त्र जो स्वयम्वर विषय में प्रमाण दिया है उस मंत्र के "स्वयं सा मित्रं वनु ते जने चित्" इस वाक्य में भी "मित्रं" यह एकवचन है बहुवचन नहीं, यदि बहुवचन हाता तो "मित्राणि" होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं, इससे भी एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह होना स्पष्ट है, और जो प्रमाण " सपत्नि " = सौत के लिये प्रतिपक्षी देते हैं उनमें विवाह का कहीं भी वर्णन नहीं किन्तु इससे भिन्न उन सूक्तों में राजधर्म का वर्णन है, जैसाकि " असपत्ना किला भुवम् " ऋग्० १० । १५९ । ४ इस मन्त्र में यह वर्णन किया है कि मैं

" असपत्न " = शत्रुओं से रहित होऊं, यह भाव इस सूक्त में स्पष्ट है, एवं " असपत्ना सपत्नघ्नी " ऋग्० १० । १५९ । ५ इस मन्त्र में यह विधान किया है कि मैं शत्रुओं के जीतने वाला होऊं और मेरी शक्ति सपत्नघ्नी = शत्रुओं को हनन करने वाली हो, इस प्रकार अन्यायकारी शत्रुदल के विनाश करने का यहां प्रकरण है " सौत " का इस सूक्त में कोई प्रकरण नहीं, और जोः—

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमां ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥

ऋग्० १० । १४५ । १

यह मन्त्र प्रमाण दिया है इसका आशय यह है कि मैं इस लतारूप औषध को लाभ करता हूं जो अत्यन्त बलयुक्त है इससे " सपत्नी " = शत्रुदल की शक्ति को बाध करके " पति " = अपने न्यायकारी राजारूप पति को प्राप्त होऊं, यह प्रकरण सोमलता का है, क्योंकि " वीरुध " शब्द से यहां लता का कथन स्पष्ट है, इससे सपत्नीशक्ति = प्रतिपक्ष की शक्ति पर इसप्रकार विजय प्राप्त होती है कि यह लता आल्हादक द्रव्य है मादक नहीं, जो पदार्थ मनुष्य को आनन्दोत्पन्न करके आल्हादित करते हैं उनसे वीर पुरुष युद्ध में उत्तेजित होकर प्रतिद्वन्दी शक्ति को छिन्नभिन्न करके अपना राज्य स्थापित करते अर्थात् शत्रुशक्ति को जीत लेते हैं, इस अभिप्राय से यहां " सपत्नी " शब्द आया है स्व स्त्री की सौत के लिये नहीं, और जो सायणाचार्य्य ने " वधु " शब्द ऊपर से जोड़कर वधु की सौत बना लिया है यह मन्त्र में नहीं ।

इस प्रकार प्रकरण भेद से आये हुए मन्त्रों का अन्यथा व्याख्यान करके अल्पश्रुत लोग वेद से एक पुरुष की अनेक

स्त्रियों का विधान करते हैं जो वास्तव में वेदों में नहीं, और यह अनर्थ हो भी कैसे सकता है जबकि पुरुष स्त्री का समानाधिकार वेदों में पाया जाता है, बहुत सूक्तों पर स्त्रियों का ऋषिरूप से उल्लेख है अर्थात् जिसप्रकार मन्त्रद्रष्टा पुरुष वेदों के ऋषि माने गये हैं इसीप्रकार वेदार्थ द्रष्ट्री स्त्रियें भी वेदों के सूक्तों पर ऋषिरूप से लिखी गई हैं, ऐसी २ विदुषी स्त्रियें जब भारतवर्ष में होती थीं तो फिर उनके साथ सपत्नी का अन्याय कैसे होसकता था, वास्तव में बात यह है कि जैसे उपन्यासकारों ने द्रौपदी के पांच पतियों का वर्णन करदिया है इसी प्रकार वेदविरुद्ध अनाचार से यदि किसी स्त्री के अनेक पति वा एक पुरुष की अनेक स्त्रियें पाई जाती हों तो वह वैदिकमर्यादा नहीं प्रत्युत अनाचार ही कहाजायगा, अधिक क्या वेदों के तत्व को न समझकर अल्पश्रुत लोगों ने ऐसी २ भूलें की हैं जिससे आर्य्यजाति को अत्यन्त कष्ट का सामना करना पड़ा है उन्हीं का फलरूप यह बहुविवाह भी वैदिक लिखदिया है, कारण यह है कि ऐसे लेखों में प्रकरण का विचार सर्वथा छोड़ दिया गया है।

एक यही नहीं किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जहां प्रकरण का विचार नहीं रखा गया वहां सर्वत्र ऐसे ही अनर्थ हुए हैं, प्रमाण के लिये एक और उदाहरण उद्धृत करते हैं:—

"दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय"

ऋग्० १० । २७ । १६

इस मन्त्र में यह वर्णन किया है कि दश प्रजापतियों के समान एक कपिल ऋषि हुआ है, यह अर्थ बहुत लोगों ने इस वेदवाक्य के किये हैं, यदि उनसे यह पूछाजाय कि यह कपिल कौन था तो उत्तर यही मिलता है कि जो कपिलऋषि सांख्यशास्त्र

का कर्त्ता था उसका वर्णन इस मन्त्र में है, यदि इतिहास के प्रमाण से देखाजाय तो यह कपिल महाभारत के अनन्तर हुए हैं फिर इनका नाम वेद में कैसे ? इसका कुछ उत्तर न मिलेगा, वास्तव में बात यह है कि यह "कपिल" शब्द यहां यौगिक अर्थ में आया है जिसके अर्थ जोड़े के हैं, और वेद में प्राणों के संयमविषयक आया है, क्योंकि इससे पूर्व "अङ्गिरा" शब्द से प्राणों का ग्रहण है और "समानं" शब्द का तात्पर्य यह है कि जब योगी प्राण तथा अपानरूप प्राणों की गति को रोकलेता है तब उसका नाम प्राणापान कहा जाता है, अतएव "हिन्वन्ति क्रन्वे पार्याय" इस कथन ने स्पष्ट करदिया कि जब योगीजन इन प्राणों को प्रेरित करके पार्याय = प्राणायाम के लिये विनियुक्त करता है तब एक प्रकार से प्राणापान का कपिल = जोड़ा समानगति को प्राप्त होजाता है, अब पाठक विचारें कि इस एक ही वाक्य में अर्थ का कितना भेद होगया, इसी प्रकार "आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे०" ऋग्० १० । १८ । ७ इस मन्त्र में यह लिखा है कि यह स्त्रियें "अग्रे" = सबसे प्रथम घर को चली जायं, यहां अग्रे के स्थान में अग्नये समझकर जो हत्यायें सुकुमार अबलाओं की सतीरूप कुरीति से भारत में हुईं वह किसी से छिपी हुई नहीं, इस विषय को हम प्रथम विस्तारपूर्वक लिख आये हैं यहां इतना दिखलाना ही इष्ट है कि अर्थ का अनर्थ कैसे होजाता है, एवं "हरिश्चन्द्रो मरुद्गण०" ऋग्० ८ । ६६ । २६ इस मन्त्र से राजा हरिश्चन्द्र की कथा निकाली जाती है जो वास्तव में "हरिः" प्रकाशक विद्वानों के गण का नाम है, और "बृहद्वोवय उच्यते सभासु" ऋग्० ६ । २८ । ६ में जो गौओं के दूध को यज्ञ में श्रेष्ठ वर्णन किया है उसके अर्थ

गोबलिदान के किये गये हैं, इसीप्रकार " गावो सोमस्य प्रथमस्य भक्षः " ऋग्० ६ । २८ । ५ में गौओं का दूध जो सोम का भक्ष माना है उसके अनर्थ करके गौओं को सोम का भक्ष बलिरूप से वर्णन किया गया है, इस विषय को हम पूर्व विस्तार से लिख आये हैं, यहां मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वैदिक नामों को केवल रूढी = संज्ञावाचक शब्द समझने से किस प्रकार के अनर्थ उत्पन्न होते हैं, संज्ञावाची शब्द मानकर यूरोप निवासी पण्डितों ने वेदों की व्याख्या की है इसीलिये वेदों के उच्चभावों को उन्होंने बहुत नीची दृष्टि से देखा है, उनका भाव वेदों के विषय में यह है कि ऋग्वेद कई ऋषियों ने बनाया है और उसमें ऐसे २ बाल्यावस्था के भाव हैं कि जिन बालकों को बली दिया जाता था तो जैसे उनके भाव देवता पर चढ़कर स्वर्ग प्राप्त होने के थे इसी प्रकार बली चढ़ाने वाले भी अपने सरलभावों से ऐसे कामों को अत्यन्त पुण्यों की प्राप्ति मानते थे, अधिक क्या बालकपन के विचारसमान ऋग्वेद के विचार हैं ? यह कथन सर्वथा असङ्गत है, यदि ऐसे विचार वैदिकसमय में होते तो वैदिक विवाह तथा सर्वोपरि स्वयम्बर की रीति आदि उच्चभाव वेद में न पाये जाते, इससे भिन्न ईश्वर के एकत्व का विचार और उसमें सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों के ओतप्रोत होने का वर्णन है, जैसाकि "अजस्य नाभा वध्येकमर्पितम्" ऋग्० १० । ८२ । ६ इस मन्त्र में वर्णन किया है कि एकमात्र ईश्वर की सत्ता में सब ओत प्रोत हैं, यह उच्च विचार वेदों में कदापि न मिलते, क्योंकि भिन्न २ पुरुषों के बनाये हुए ग्रन्थ में विचारों का लक्ष्य एक कदापि नहीं होता, आप कोई भी पुस्तक लेलें उसमें ऐक्यमत तभी होसकता है जब उसका कर्त्ता एक हो, दृष्टान्त के लिये हम वाल्मीकि रामायण को रखते हैं उसमें

विश्वामित्र ब्राह्मणेतर होने पर भी ऋषि माना गया है परन्तु उत्तरकाण्ड में जाकर गुणकर्मानुसारिणी वर्णव्यवस्था का खण्डन पाया जाता है अर्थात् एक शूद्र का शिर इसी कारण उतारा गया कि वह तप करता था, इत्यादि हेतुओं से अनुसन्धान कर्त्ताओं ने यह निश्चय किया है कि उत्तरकाण्ड बाल्मीक का बनाया हुआ नहीं और उसकी भाषा में भी अन्तर पाया जाता है, इस प्रकार का प्रभेद तथा मतभेद वेद में नहीं, ऋग्वेद में "प्रथम मण्डल" से लेकर "दशम मण्डल" तक एक प्रकार की भाषा पाई जाती है, और ईश्वर तथा सामाजिक सम्बन्धी विचारों में अंशमात्र का भी भेद नहीं, और जो यह कहा जाता है कि "प्रथममण्डल" अनेक ऋषियों की कृति है, इसका कोई भी प्रमाण प्रतिपक्षियों ने नहीं दिया प्रत्युत इससे विरुद्ध यह प्रमाण मिलता है कि " ज्योतिश्चक्रथुः आर्याय " ऋग्० १। ११७। २१ = मैंने यह दिव्यरूपज्ञान आर्य्य पुरुषों के लिये दिया है, आर्य्य अनार्य्य का प्रभेद और आर्य्य तथा दस्युओं का अन्तर आदिसृष्टि में कैसे ज्ञात होगया ? जैसाकि हम पूर्व अनेक पुष्ट प्रमाणों से वर्णन कर आये हैं, यूरोपनिवासी पण्डित तथा उनके अनुयायियों को ऐसा भ्रम होजाने का कारण यह प्रतीत होता है कि जो नाम वेद में आये हैं उन नामों वाले ऋषियों की रचना अल्पश्रुत लोग वेद को मानते हैं, जैसाकि तृतीयमण्डल को यह लोग विश्वामित्र का बनाया हुआ मानते हैं, यदि इनसे यह पूछाजाय कि कौनसा विश्वामित्र ? क्योंकि विश्वामित्र कई हुए हैं, एक विश्वामित्र राम के समय में हुए जिनका वसिष्ठ के साथ ब्राह्मणत्व की प्राप्ति में विवाद पाया जाता है, दूसरा विश्वामित्र वह जिससे शकुन्तला उत्पन्न हुई, शकुन्तला का विवाह राजा दुष्यन्त के साथ हुआ और उससे

भरत हुआ जिसकी सन्तान भारत कहलाई अर्थात् भरत के नाम से ही भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि दुष्यन्त के पश्चात् इस देश का राजा भरत था, तीसरा विश्वामित्र जिसने अपने रोहित नामा पुत्र को यज्ञ में बलिदान देने से टालमटोल किया, एवं कई एक विश्वामित्र माने जाते हैं, यदि ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन किया हुआ वा बाल्मीकिरामायण वाला विश्वामित्र वेदों का रचयिता मानाजाय तब भी असम्भव है, क्योंकि वेदों से ब्राह्मणग्रन्थ सहस्रों वर्ष पश्चात् बने हैं, इस भाव को हम सैन्धवघन का उल्लेख करके अर्थात् नमक की कान का लेख शतपथ ब्राह्मण में दिखलाकर यह सिद्ध कर आये हैं कि ब्राह्मणग्रन्थ उस समय बने हैं जब सिन्धु का सम्बन्ध पंजाब की जेहलम नदी के समीप कटासराज से था जो पुष्कर के समान एक स्रोत है और जिसको पृथिवी का दूसरा नेत्र माना जाता है अर्थात् रोहत का पिता जो विश्वामित्र था वह वैदिक समय से बहुत अर्वाचीन है, और जिस विश्वामित्र का नाम वेद में है वह कोई व्यक्तिविशेष न था किन्तु एक गुणवाची शब्द था अर्थात् जो पुरुष प्राणीमात्र को मित्रता की दृष्टि से देखे उसका नाम वेद में "विश्वामित्र" है, समदृष्टिवाद के मंत्र जिनमें विश्वामित्र एक सामान्य मेधावी नाम का उल्लेख है उसके अनुसन्धाता ने अपना नाम भी विश्वामित्र रखलिया जो उन मन्त्रों पर ऋषिरूप से लिखा गया, वास्तव में उसी में "मित्रे चर्षौ" अष्टा० ६। ३। २१ यह पाणिनीय सूत्र लगता है कि ऋषि वाचक मित्र शब्द परे होने पर पूर्वपद को दीर्घ होजाय, भाव यह है कि वैदिक शब्दों में इस सूत्र की गति नहीं वहां दीर्घ छान्दस है, इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट सिद्ध है कि केवल नाम आजाने से अल्पश्रुत पुरुषों को वेदों के मनुष्य

कृत होने की भ्रान्ति होती है परन्तु वास्तव में वेद ईश्वरकृत हैं।

इसी प्रकार मैक्समूलरादि वेद के अनुसन्धाताओं ने ऋग्वेद के द्वितीयमण्डल को "गृत्समद" ऋषि का बनाया हुआ ठहराया है, गृणातीति-गृत्समद=जो तत्व को ग्रहण करने वाला हो उस का नाम "गृत्समद" है, यह नाम निघण्टु में मेधावी के नामों में पढ़ा गया है अर्थात् जहां बुद्धिमानों के नामों की गणना कीगई है वहीं इस शब्द का प्रयोग है, फिर यह नाम व्यक्ति-विशेष का वाची कैसे होसकता है अर्थात् गृत्समद कोई पुरुष विशेष नहीं हुआ यह केवल गुणवाचक शब्द है, एवं "कण्व" शब्द भी मेधावी के नामों में वैदिककोष में आया है जिसका बनाया हुआ प्रतिपक्षी लोग ऋग्वेद के अष्टममण्डल को मानते हैं, कण्व कोई व्यक्तिविशेष न था, परन्तु अब बहुत अर्वाचीन समय में आकर एक व्यक्ति का नाम भी कण्व हुआ जिसके आश्रम में शकुन्तला का लालन पालन हुआ था, इसी प्रकार अत्रिऋषि द्वारा पंचम मण्डल और भारद्वाज ऋषि से षष्ठमण्डल का निर्माण बतलाया गया है परन्तु उक्त नामों से इन अर्वाचीनकालीन ऋषियों का ग्रहण नहीं किन्तु "अत्रि = न त्रयो विद्यन्ते यस्मिन् स अत्रिः"=जिसमें आध्यात्मिकादि तीनो ताप न हों उसका नाम "अत्रि" है अर्थात् यह शब्द तीनो तापों के अभाव के अर्थ रखता है, और "वाजं बलं बिभर्तीति भारद्वाजः" = जो बल का देने वाला हो उसका नाम "भारद्वाजः" है, इन अर्थों को छोड़कर यदि दूसरे अर्थ माने जायं तो अर्थ यह होते हैं कि दीर्घतमा जो ममता के उदर में था उसने जिसको अवकाश नहीं दिया उसका नाम भारद्वाज हुआ जिसके अर्थ यह किये जाते हैं कि "द्वाभ्यां जायते इति द्वजः, द्वाजं त्वं भर इति

भारद्वाजः" = दोनों से उत्पन्न हुए इसकी तू अब रक्षा कर, यह ममता ने अपनी अनुज वधु को कहा, इत्यादि मिथ्या कथाओं के आधार पर वेदार्थ कदापि नहीं करने चाहियें किन्तु यज्ञादि कर्मों के अधिष्ठाता तथा निर्माता का नाम "भारद्वाज" है, इसी प्रकार सप्तम मण्डल का निर्माता वसिष्ठ ऋषि माना है, ठीक है उक्त मण्डल में यह वाक्य पाया जाता है कि "वसिष्ठोर्वस्या" ऋग्० ७ । ३३ । ११, इसी वाक्य से लोगों को भ्रान्ति उत्पन्न हुई है, इस वाक्य के अर्थ हम पूर्व लिख आये हैं कि उर्वशी यहां ब्रह्मविद्या का नाम है और उससे मातृवत् पालित लड़के का नाम यहां वसिष्ठ है अर्थात् "विद्यायां वसतीति वसिष्ठः"=जो विद्या में निवास करे उसका नाम "वसिष्ठ" है, यही व्यवस्था नवम मण्डल की समझनी चाहिये जिसको अङ्गिराऋषि का बनाया हुआ माना जाता है, वास्तव में बात यह है कि अङ्गिरा नाम प्राणों का है, वेदमन्त्रों में प्राणविद्या का वर्णन पाये जाने से अल्पश्रुत लोगों को अङ्गिरा ऋषि की भ्रान्ति होजाती है, अस्तु—जो हो उक्त नामों से वेद मनुष्यकृत तब कहा जासकता है जब प्रथम तथा दशम मण्डल को भी कोई प्रतिपक्षी किसी ऋषि का बनाया हुआ सिद्ध कर देता, परन्तु अब तक किसी ने सिद्ध नहीं किया, प्रत्युत यूरोप निवासी पण्डित यह मानते हैं कि इन मण्डलों के कर्त्ता कल्पित हैं अर्थात् कल्पना किये जाते हैं, निश्चयरूप से नहीं कहा जासकता कि किन ऋषियों ने इनको बनाया है, उक्त दोनों मण्डलों के निर्माण विषय में प्रतिपक्षी इसलिये चुप हैं कि प्रथममण्डल में शिल्प तथा पदार्थविद्या का वर्णन विशेषरूप से किया गया है और इसमें गुणवाचक मेधावी विद्वानों के नाम भी नहीं हैं, जैसाकि इसी मण्डल के प्रथम मन्त्र में

अग्निविद्या को रत्नों की उत्पत्ति का कारण माना है, इसी प्रकार अनन्तविद्याओं का वर्णन इस मण्डल में पाया जाता है, एवं दशममण्डल में धर्मसम्बन्धी नियमों का वर्णन है, केवल इतना ही नहीं किन्तु द्वैताऽद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के सब सिद्धान्त विशेषरूप से इस मण्डल में वर्णित हैं, और "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः" ऋग्० १०। १२९। ६ इत्यादि मन्त्रों में इन्द्रियागोचर तत्वों का ऐसा विशदरूप से वर्णन किया है कि इस प्रकार का भाव अन्य किसी ग्रन्थ में ईश्वरमहिमा विषयक नहीं पाया जाता, फिर किसका साहस था कि इस मण्डल को किसी ऋषि की कृति वर्णन करता, इसी कारण उक्त दोनों मण्डलों को मनुष्यरचित कथन करने में सब प्रतिपक्षियों ने मौन धारण करलिया है।

और जो मिस्टर आर०सी०दत्त ने यह लिखा है कि बहु विवाह की कुरीति इसी अन्तिम दशममण्डल में वर्णन कीगई है, यदि उनसे यह पूछाजाय कि इससे प्रथम अन्य किस मण्डल में विवाह की कुरीति वर्णन की है? तो उत्तर यही मिलेगा कि कहीं भी नहीं, जब विवाह आदि सब सुधारों का भाण्डार यही मण्डल है तो फिर अन्य कुरीतियें इसमें कैसे कही जा सकती हैं? हम यहां बिना संकोच यह लिखना भी उपयुक्त समझते हैं कि सायणादि अर्वाचीन भाष्यकारों की अल्पदृष्टि से वेदों पर पूर्वोक्त दोष लगाये जाते हैं, क्योंकि इन्होंने अपने भाष्यों में बहुविवाह, नानादेवतावाद, पशुवधवाद, ईश्वरविषयक साकारवाद, अद्वैतवाद, मारण, मोहन, वशीकरण तथा उच्चाटन एवं भूत प्रेत पिशाचादि अनन्त वादों की भरमार करदी है जिससे मोक्षमूलर आदि विदेशीय भाष्यकारों को भी यह भ्रान्ति होगई कि वेदों में पशुवध तथा बहुविवाह

आदि कुरीतियें हैं जिनका उत्तर हम विस्तारपूर्वक पीछे लिख आये हैं, यहां वेद की उज्वलता में एक अन्य पुष्ट प्रमाण देते हैं जिससे ज्ञात होगा कि वेद मिथ्या वादों का भाण्डार नहीं, यह हम पूर्व लिख आये हैं कि जब सती की रसम का इस मण्डल में गन्ध भी नहीं प्रत्युत उसके विरुद्ध यह लेख पाया जाता है कि श्मसान से विधवा तथा सधवा = सुहागिन दोनों प्रकार की स्त्रियें प्रथम घर को जायं, जैसाकि "योनिमग्रे०" मन्त्र का प्रमाण देकर पीछे सिद्ध कर आये हैं, जब यह कुरीति जिसका कलङ्क प्रायः सब हिन्दूधर्मानुयायी लोगों पर लगाया जाता है, इसका गन्धमात्र भी वेद में नहीं तो अन्य कुरीतियों की तो कथा ही क्या, अस्तु—हम यहां दशममण्डल का विषयक्रम उपन्यास करके वेद के उत्तम भावों को दर्शाते हैं जिससे ज्ञात होगा कि वेद भ्रमात्मक कुरीतियों का आकर नहीं।

ऋग्वेद के उपसंहाररूप अन्तिम "दशममण्डल" का क्रम इस प्रकार है कि प्रथम सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करके पुनः उससे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया है अर्थात् यह मण्डल सर्व पूज्य परमात्मा के पवित्र ज्ञान का सूचक इस प्रकार है कि तुष्टा=परमात्मा ने दुहितुः = दूर रह कर हित करने वाली, या यों कहो कि परमात्मा से भिन्न रहकर जो हितकर है वह जीवों के अभ्युदय तथा निःश्रेयस का साधनरूप वर्णन कीगई है, ऐसी प्रकृति का विवस्वान = तेजस्वी कार्य्यरूप सन्ततियों के उत्पन्न करने वाले सूर्य्य के साथ सम्बन्ध किया जिससे सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों की उत्पत्ति हुई।

तात्पर्य्य यह है कि क्रियावान् जो प्राणरूप विवस्वान = सूर्य्य है उसने रयिरूप चन्द्रमा = प्रकृति में सन्तति उत्पन्न की, या यों कहो कि प्रकृति उपादान कारण और तुष्टा = परमात्मा

की ज्ञानरूप शक्ति जो निमित्तकारण है उससे सृष्टि उत्पन्न हुई, इस प्रकार कार्य्य कारणभाव का वर्णन वेद में स्पष्ट है, इतना ही नहीं किन्तु कर्म धर्म की व्यवस्था इस मण्डल में स्पष्ट रीति से वर्णन कीगई है जिसमें कर्मों का फलप्रदाता एकमात्र परमात्मा को माना है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्र में वर्णन किया है कि:—

"युजा कर्माणि जनयन् विश्वौजा अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट्" ऋग्० १० । ५५ । ८

अत्यन्त गतिशील तथा शक्तिसम्पन्न परमात्मा ने कर्मों को उत्पन्न किया अर्थात् जीवात्मा तथा शरीर के संयोग द्वारा कर्मों का उत्पादक परमात्मा ही है अन्य नहीं, इसी आशय से कठोपनिषद् में भी वर्णन किया गया है कि "कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः" = वह परमात्मा कर्मों का अध्यक्ष और सब प्राणीमात्र का निवासस्थान है और आत्मरूप तृतीयज्योति से प्रविष्ट हुआ जीव कर्मफलों का भोक्ता वर्णन किया गया है, यह वेद का आशय है जिसको " अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में इस प्रकार वर्णन किया है कि मैं जीवरूप आत्मा से प्रविष्ट होकर नाम रूप को करूं, उपनिषद् तत्व को न जानकर अल्पश्रुत लोगों ने उक्त वाक्य के यह अर्थ किये हैं कि ब्रह्म ही स्वयं जीवभाव को प्राप्त होगया, यह उपनिषत्कार का आशय नहीं, क्योंकि उपनिषदों में यह भाव वेद से आया है और वेद में स्पष्ट रीति से वर्णन किया है कि "जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः" ऋग्० १।१५।४ = मृत पुरुष का जीव प्रकृति के साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होता है, "स्वधा" के अर्थ प्राकृत अन्तःकरण के हैं, इसी अभिप्राय से अन्यत्र

भी वेद में वर्णन किया है कि "अजोभागस्तपसा तं तपस्व" ऋग्० १०।१६।४ = हे परमात्मन्! अज=अविनाशीरूप जो यह आत्मा है इसको आप तपस्वी बनावें ताकि मैं पुनर्जन्म में पुनः माता पिता का दर्शन करूं, इस प्रकार की प्रार्थना वेद के अनेक स्थलों में पाई जाती हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेद में स्पष्ट है, इसी प्रकार जीव ईश्वर के भेद का सिद्धान्त भी स्पष्ट है, जैसाकि हम पूर्व लिख आये हैं, और जो यह कहा जाता है कि प्रथम काल में जब पुजारी लोग प्राकृत पूजा करते थे तब का बना हुआ ऋग्वेद है, यह कथन भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि यदि प्राकृत पूजा ही उस समय के पुजारियों का लक्ष्य होता तो जिन सूक्तों में केवल इन्द्रियगोचर पदार्थों का वर्णन पायाजाता है उनका निर्माण किसने किया और उनके निर्माणकाल में अकस्मात् ऐसी बुद्धि कहां से आगई कि वेदभगवान् जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों का वर्णन है अर्थात् अव्याकृत प्रकृति से लेकर स्थूल से स्थूल इस विराट रूप का वर्णन है और इस चराचर जगत् को एकमात्र उसी एक अचिन्त्यनीय शक्ति के सहारे माना है जिसको ईश्वर, ब्रह्म वा अर्य्य नामों से पुकारा जाता है और जिसका वर्णन ऋग्वेद दशममण्डल सूक्त ८० से ८२ तक स्पष्ट है जिनमें यहां तक लिखा है कि "अजस्य नाभावध्येकमर्पितम्" ऋग्० १०।८२।६ = एक अज = अविनाशी ब्रह्म के शासन में यह सब ब्रह्माण्ड ओतप्रोत हैं, जिस वेद में यहां तक आध्यात्मिक विद्या का वर्णन है उसमें प्राकृत पूजा तथा गौ, अश्व अथवा मनुष्य के बलिदान का दोष लगाना कितनी अदूरदर्शिता की बात है, बलिदान विषयक खण्डन हम पूर्व विस्तारपूर्वक कर आये हैं, यहां इतना और दर्शाते हैं कि अश्वमेध प्रकरणस्थ

मन्त्रों के यदि आध्यात्मिक अर्थ किये जायं तो कुछ दोष नहीं जिसका प्रकार यह है कि:—

ये वाजीनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥

ऋग्० १।१६३।१२

जो लोग "वाजीनं" = मन को संस्कृत हुआ २ देखते और यह कहते हैं कि अब यह "पक्वं" = सुगन्धित होगया, इसको सांसारिक विषयों से निकालकर "अर्वतः" = शान्त करने की इच्छा करते अर्थात् जो मन को सदैव ज्ञानशील बनाने के लिये ज्ञान की भिक्षा मांगते हैं उनका उद्यम हमको प्राप्त हो, यह इसके सत्यार्थ हैं।

और जो उक्त मन्त्र के यह अर्थ करते हैं कि जो लोग घोड़े को पकता हुआ देखकर यह कहते हैं कि अब यह पक गया सुगन्धि आने लगी, अब इसको पकाने वाले वर्तन से निकाल लें, और जो अर्वी घोड़े के मांसरूप भिक्षा की उपासना करते हैं उनका उद्यम हमको प्राप्त हो, इस अर्थ विषयक क्या कोई कहसकता है कि वास्तव में यह उद्यम है, उद्यम के अर्थ उन लोगों ने किये हैं जिनके विचार में बलिदान से भिन्न वेद में अन्य कोई पुरुषार्थ की बात ही नहीं, जब वेद में कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनो काण्डों का वर्णन विस्तार से पाया जाता है तब कैसे कहा जासकता है कि मांस की भिक्षा करना ही परम पुरुषार्थ है अन्य नहीं।

ज्ञात होता है कि पशुवधरूप यज्ञ में जाकर मांस की भिक्षा मांगना महात्मा बुद्ध से पीछे हिन्दुओं में प्रवृत्त हुआ है, यद्यपि महात्मा बुद्ध मांसभक्षण के अत्यन्त विरोधी थे तथापि भिक्षा मांगने की प्रथा सर्वथा बुद्ध के पश्चात् चली है, बुद्धदेव

से प्रथम यह प्रथा न थी।

अन्य बात यह है कि "वाजी" शब्द के अर्थ बल, अन्न तथा ऐश्वर्य के हैं, इन सब अर्थों को छोड़कर केवल घोड़े के अर्थ करके वेदों से अश्रद्धा कराना उस समय का काम है जब लोग वैदिक कोष निरुक्त को छोड़कर केवल पौराणिक अर्थ करते थे, इसी पौराणिक प्रथा के समय में वेद से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश निकालने के लिये वेद के पौराणिक अर्थ किये गये, यद्यपि इस समय में टीकाकारों का पौराणिक अर्थों की ओर बहुत झुकाव था तथापि जहां कहीं भी सायणाचार्य्य ने वैदिक देवों का वर्णन किया है वहां उनको पौराणिक देव छोड़ने पड़े हैं, जैसाकि ऋग्० १०। ५५। ३ में सायणाचार्य्य ने देव, मनुष्य, पितृ, असुर तथा राक्षस यह पांच देव माने हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश तथा दुर्गा आदि आधुनिक देवों को देव नहीं माना अर्थात् धार्मिक विद्वान् मनुष्यादि सच्चे देवों को ही देव माना है।

वैदिकसमय की सभ्यता को वर्णन करते हुए यहां हमें यह अवश्य कहना पड़ता है कि सायणादि भाष्यकारों ने वेद के गूढ़ाशय पर ध्यान न देकर उसके अनुचित अर्थ करके वेद को असभ्यजाती का पुस्तक बना दिया है, जैसाकिः—

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपंति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशंतः प्रहराम शेपम्॥

ऋग्० १०। ८५। ३७

इस मन्त्र के अर्थ सायणाचार्य्य ने ऐसे निन्दित किये हैं कि कोई असभ्य से असभ्य जाती भी ऐसे अर्थ नहीं करती अर्थात् इस मन्त्र से यह आशय लिया है कि मैं "शेप" = उपस्थेन्द्रिय से तुम्हारे उरुओं के मध्यदेश में प्रहार करूं।

इस मंत्र में सायणाचार्य्य ने केवल उरु, शेप तथा प्रहरण इन तीन शब्दों पर ही बल दिया है अर्थात् यह तीन शब्द ही अश्लीलता का भाण्डार माने हैं, पर यहां यह नहीं सोचा कि:—

देवी दिवो दुहितरा सुशिल्पे उषासानक्तासदतांनि योनौ।
आ वां देवास उशती उशंत उरौ सीदंतु सुभगे उपस्थे॥

ऋग्० १० । ७० । ६

उक्त तीनों शब्द जो स्त्रियों के मर्माङ्गों में आते हैं उनके अश्लील अर्थ नहीं जैसे कि सायण ने किये हैं प्रत्युत उनके यह अर्थ हैं कि "उरु" शब्द विस्तीर्ण अर्थ में आया है और "योनि" तथा "उपस्थ" के अर्थ यज्ञ के समीपस्थान के हैं अर्थात् यज्ञस्थान के समीप की भूमि को खोद छील कर पवित्र करके शुद्ध बनावे और विस्तीर्णरूप से चतुष्कोण करे, इन अर्थों को पढ़कर पुरुष को पूर्ण विश्वास होजाता है कि मनुष्य ही अपने मन के मलिन भावों से वेद को अश्लील बनाते हैं वास्तव में उनमें कोई बात असभ्यता की नहीं, अब पूर्वोक्त विवाह विषयक मन्त्र के यह अर्थ हुए कि मैं अपनी पत्नि के विस्तीर्ण हृदय में अपने ज्ञान का "शेप" = प्रकाश डालूं, क्योंकि शेप नाम निरुक्त में प्रकाश का है, इस प्रकार अनुसन्धान करने से वेदों के बड़े उच्चभाव प्रतीत होते हैं जिनको आधुनिक भाष्यकारों ने पौराणिक कोषों के आधार पर मिथ्या अर्थ करके वेदों के आशय को बिगाड़ दिया है, और:—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वंत्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पां॥

ऋग्० १० । ७१ । ५

जिन लोगों ने "वाक्" देवी की उपासना से अर्थात् उसके यथार्थ अर्थ के अभ्यास द्वारा वेदवाणी के साथ एक प्रकार की सख्य = मैत्री का सम्बन्ध उत्पन्न करलिया है वही वेद के गूढ़ाशयों को जानसकते हैं, अन्य लोग बन्ध्या गौ के समान उस वाणी से लाभ नहीं उठा सकते, या यों कहो कि अफलित वृक्ष के समान उसको निष्फल समझकर फलों से सदैव वंचित रहते हैं, यही कारण है कि वेदों के आध्यात्मिक अर्थ छोड़कर केवल मनमाने अति घृणित अर्थ करके वेदों से अश्रद्धा उत्पन्न करते हैं, इस दोष को दूर करने के लिये हमने "दशममण्डल" के कतिपय गूढ़ार्थ प्रधान मन्त्रों के उदाहरण देकर इस प्रस्तावना का प्रस्ताव किया है।

पुराणों में ब्रह्मा त्रिमूर्ति में से एक मूर्ति है, या यों कहो कि देवत्रयी = ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन तीनों देवों में से ब्रह्मा भी एक अवतार माना गया है अर्थात् ईश्वर के चौवीस अवतारों में ब्रह्मा भी एक अवतार है जिसकी पूजा न होने के विषय में एक घृणित कहानी है जिसका भावमात्र पीछे लिख आये हैं, अब विचारणीय बात यह है कि ब्रह्मा को चारो वेदों का वक्ता क्यों मानागया ? इसकी जड़ यह है कि ब्रह्म नाम वेद में सूक्त का भी है और सूक्त का वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस कारण ब्रह्मा नाम का वेद से सम्बन्ध रखा गया है, दूसरी बात यह है कि "भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः" ऋग्० १० । ५० । ४ में यह वर्णन किया है कि इन्द्र = हे ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! आप वेदवेत्ता ब्राह्मण के साथ वृद्धि को प्राप्त हों, यहां ब्रह्मा नाम वेदवेत्ता का है, और इसी प्रकार "तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहु०" ऋग्० १० । १०७ । ६ इस मन्त्र में भी ब्रह्मा विद्वान् की एक पदवी है, इसी पदवी के

आधार पर ब्रह्मा को पुराणों में वेदवेत्ता कथन किया गया है और वेदों के चार होने के कारण ब्रह्मा को चतुर्मुख बना दिया है, इसी प्रकार विष्णुसूक्तों से विष्णु की रचना और जिन सूक्तों में शिव का नाम आया है उनसे शिव की रचना बनाई और एक प्रकार का वेदों से विपरीत रूपक देकर वैदिक भावों को अर्थवाद के आकार में बदल दिया, ऐसे उदाहरण ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक पाये जाते हैं, जो सूक्त स्पष्टतया मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय = धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के प्रतिपादक थे उन का अन्यथा अर्थ करके और ही भाव निकाल लिया, उदाहरण के लिये पुरुषसूक्त ही देखें जो पौराणिककाल में किन २ अर्थों में लिया गया है, जन्म से जाति मानने वालों ने उक्त सूक्त से यह भाव निकाला है कि मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघों से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए अर्थात् ईश्वर के मूर्त्तरूप सब अंग ही मनुष्यों की उत्पत्ति के कारण हुए, अधिक क्या साकारवादियों ने इसी सूक्त से अंगकल्पना करके ईश्वर के साकार होने का सिद्धान्त निकाला है परन्तु वास्तव में यह सूक्त ब्राह्मणादि गुणविशिष्ट पुरुषों के संगठन का प्रतिपादक है अर्थात् जिस प्रकार मुख, बाहु, उरु तथा जंघा इन चारो अंगों का समुदाय मनुष्य का शरीर है इसी प्रकार चारो वर्णों की परस्पर सङ्गति का संगठन आर्य्यजाति की उन्नति का कारण है।

तात्पर्य्य यह है कि जिसप्रकार एक अंग के भंग होने से भी मनुष्य सर्वाङ्गपूर्ण नहीं कहलासक्ता, इसी प्रकार जिस जाति में उक्त चारो वर्णों की परस्पर सङ्गति नहीं वह जाति भी स्थिर नहीं रहसक्ती, परमात्मा ने आर्य्यजाति को उक्त चार प्रकार के गुणों से विभूषित किया था जिसके तात्पर्य्य को न समझकर ब्राह्मणादि धर्म जन्मप्रयुक्त मानलिये जो सर्वथा वेद-

विरुद्ध हैं, इसी प्रकार सब आकारों के निर्माता सर्वकर्त्ता परमात्मा को साकार मानकर उसके जन्म तथा कर्मों का निरूपण किया गया और वेद के "सहस्रशीर्षादि" मन्त्रों को इसी भाव में विनियुक्त किया जो वास्तव में इस विराट् पुरुष की आकृति को वर्णन करते थे, और विराट शब्द के अर्थों से ही यह भाव स्पष्ट रीति से पाया जाता है कि "विविधा राजते इति विराटः"= जो अनन्त प्रकार से विराजमान हो उसको "विराट" कहते है, इसीलिये पुरुषसूक्त में विराट की उत्पत्ति मानी है कि "ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः" यजु० ३१। ५=उस आदि पुरुष से विराट उत्पन्न हुआ और उससे प्राणधारी जीवों की उत्पत्ति हुई, इस प्रकार यहां विराट पुरुष का वर्णन था जिसको अन्यथा लापन करके कई प्रकार की कथा कहानियें गढ़ली हैं जो वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध हैं।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वैदिक "ब्रह्म" शब्द के सहारे पर पौराणिक ब्रह्मा का विचार लोगों के हृदय में उत्पन्न हुआ और इसी से ब्राह्मणजाति का अर्थात् जो ब्रह्म के साथ सम्बन्ध रखता हो वह "ब्राह्मण" है, यहां अपत्य के अर्थ नहीं होसकते, क्योंकि आदिसृष्टि में ब्रह्मा कोई मनुष्य न था, और अन्य विप्रतिपत्ति यह है कि "ये ते विप्र ब्रह्मकृतः" ऋग्० १०। ५०। ७ इस मंत्र में ब्रह्म का भी कर्त्ता माना गया है, आश्चर्य्यजनक बात यह है कि इन्द्र जो क्षत्रिय माना जाता है उसके लिये उक्त मन्त्र में विप्र शब्द आया है, जिन लोगों का यह विचार है कि विप्र शब्द ब्रह्मा की सन्तान के लिये ही आता है उनको यहां यह विचारना चाहिये कि विप्र शब्द ब्रह्मकृत = ब्रह्म के बनाने वालों से भी प्रथम है, या यों कहो कि "ब्रह्म" शब्द यहां हविष के लिये आया है

और "कृत" के अर्थ करने वाले के हैं, इस प्रकार ऋत्विकों को "ब्रह्मकृत" कहा है, अधिक क्या विप्र शब्द यहां मेधावी के अर्थों में आया है, यदि इसके अर्थ ब्रह्मा की अपत्य = सन्तान के ही माने जायं तो अन्य दोष यह आता है कि ब्रह्मा की सन्तान तो ब्राह्मण हुई पुनः चतुरानन ब्रह्मा ब्रह्म का मुखरूप सन्तान न हुआ तो फिर वह जाति से ब्राह्मण कैसे ?।

भाव यह है कि ब्रह्म शब्द वेद में स्तुति के लिये आया है जैसाकि "अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम्" ऋग्० ८।१।३ में वर्णन किया है कि हे परमात्मन्! हमारी की हुई स्तुतियें आपके यश को कथन करती हैं, इस प्रकार ब्रह्म शब्द यहां स्तुतिपरक होने से वेदों के रचयिताओं को "ब्रह्मकृत" शब्द कथन नहीं करता किन्तु स्तुतियों वा हविष्कर्ताओं का विधायक है, अस्तु-कुछ हो परन्तु पौराणिकों ने ब्रह्म वा ब्रह्मा शब्द से चतुरानन ब्रह्मा की रचना करली है जो सर्वथा विरुद्ध है अर्थात् वेद में ब्रह्मा कोई व्यक्तिविशेष नहीं किन्तु एक पदवी है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्र में वर्णन किया है कि:—

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासं।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥

ऋग्० १०।१०७।६

वही ऋषि, वही ब्रह्मा, वही यज्ञजन्य = अध्वर्यु, वही साम का गानेवाला, वही उक्थशास = होता आदि है, इससे सिद्ध है कि वैदिकसमय में ऋषि तथा अध्वर्यु आदि के समान ब्रह्मा भी एक पदवी थी, वास्तव बात यह है कि जब यह गुणकर्मानुसारिणी वर्णव्यवस्था थी तब उस समय कोई ऋषि माता पिता के दोष से दूषित नहीं गिना जाता था।

और जो कई एक लोग यह कहते हैं कि व्यास क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनों ही वर्ण था जिसने वेदों का विभाग किया, यह कथन भी पौराणिक है, यदि व्यास को ही वेदों के चार विभाग करने का कर्त्ता मानाजाय तो "तस्य वा महतो भूतस्य ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" इस शतपथ वाक्य में वेदों के चार नाम भिन्न २ कैसे आगये, क्योंकि यह बात सर्वसम्मत है कि शतपथ महर्षिव्यास से बहुत पहले बना है।

अन्य युक्ति यह है कि पूर्व मन्त्र में वर्णित "स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रः" इस वाक्य में शुक्र के अग्नि, विद्युत् तथा आदित्य यह तीन शरीर सायणाचार्य्य ने माने हैं, यदि वैदिकसमय में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश यह त्रिमूर्ति ही देव होते तो इन्हीं को तीन शरीर मानते परन्तु यह नहीं माने, इससे सिद्ध है कि वैदिकसमय में अग्न्यादि ही तीन दिव्य देव थे अन्य नहीं।

और जो कई एक प्रश्नकर्त्ता यह प्रश्न करते हैं कि वेदों में ब्रह्म बहुत ही अप्रसिद्ध देव था वही उपनिषदों के समय में आकर पूर्ण ब्रह्म बनगया, यह बात सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि "यावत् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक्" ऋग्० १०।११४।८ "ब्रह्मणो विश्वमिद्विदु०" इत्यादि मंत्रों से स्पष्ट है कि वैदिकसमय में पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान था, अन्यथा ब्रह्म की व्यापकता का दृष्टान्त देकर वाणी को बहुव्यापक सिद्ध न किया जाता और नाही ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जाती, एवं वेदों में अनेक मन्त्र पाये जाते हैं जो निराकार ब्रह्म को व्यापक सिद्ध करते हैं जिनको हम अनेक स्थानों में उद्धृत कर आये हैं, अतएव यहां पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिना निर्मिते वैदिककालिके इतिहासे वैदिकसभ्यता तथा त्रिदेववर्णनं नाम पंचमोऽध्यायः

अभ्युदय तथा निःश्रेयस

वेद केवल एक ईश्वरवाद को सिद्ध करते हैं उनमें नाना देवताओं की उपासना का विधान नहीं, वेदों में उसी एक ब्रह्म को नानादेवों के नाम से कथन कियागया है, जैसाकि "यो देवानां नामधा एक एव" ऋग्० १० । ८२ । ३ = सब दिव्य पदार्थों के नाम को धारण करने वाला वही एक है, और एक मात्र उसी परदेव के सब उपासक हैं, अधिक क्या वैदिककाल में उसी एक परब्रह्म की पूजा कीजाती थी उस समय नाना देवताओं का वर्णन न था ।

और जो कई एक लोग यह आशङ्का करते हैं कि जब वेदों में इतिहास नाममात्र भी नहीं तो फिर "वैदिककाल का इतिहास" क्या ? इसका उत्तर यह है कि "इतिहास" शब्द पूर्ववर्ती वंशचरित्र के अभिप्राय से नहीं आया किन्तु "इति ह" नाम पूर्व वृत्तान्त का है वह जिसमें हो उसका नाम "इतिहास" है, आसु-उपवेशने धातु से अधिकरण में घञ् करने से "आस" शब्द बना है, "इति ह" नाम वृतान्त आस = जिसमें हो उसका नाम यहां "इतिहास" है, अतएव इसके अर्थ पूर्व तथा वर्तमान वृतान्त के हैं, और "वैदिक कालिक इतिहास" के अर्थ यह हैं कि वैदिकसमय में लोगों के क्या २ आचार व्यवहार थे और वह किस देव के उपासक थे, जैसाकि हम पूर्व सिद्ध कर आये हैं कि वैदिकसमय में सब लोग एकमात्र ईश्वर की उपासना करते थे, वर्णाश्रम की व्यवस्था भी उस काल में ठीक २ थी, एक पुरुष के एक ही पत्नि होती थी और स्वयंवर का वर्णन ऋग्वेद में स्पष्ट है, जैसाकि हम पूर्व ऋग्वेद का मन्त्र उद्धृत करके वर्णन कर आये हैं, अधिक क्या, वैदिककाल की सभ्यता इस ऊंचे पद की प्रतिष्ठा वाली थी

कि उसके समान अर्वाचीन अर्थात् त्रेतादि युगों में फिर ऐसी उच्च सभ्यता भारतवर्ष में नहीं रही, अस्तु-मुख्य प्रसङ्ग यह है कि "इतिहास" शब्द वेदों तथा वेदाश्रित अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है जिसके अर्थ पूर्वकालिक वृत्तान्त के माने जायँ तब भी कोई दोष नहीं आता, जैसाकि " सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्" ऋग्० १०।१९०।३ इस मन्त्र में वर्णन किया है कि धाता=सबको धारण करने वाले परमात्मा ने सूर्य्याचन्द्रमसौ= सूर्य्य तथा चन्द्रमा को यथापूर्वं=पहले जैसे अकल्पयत्=बनाये, क्या इसका नाम पूर्वकालिक वृत्तान्त नहीं, एवं " देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते" ऋग्० १०।१९१।२ इस मन्त्र में यह वर्णन किया है कि जिसप्रकार पूर्वकाल के देवता उस भजनीय परमात्मा की उपासना करते थे उसी प्रकार हम भी करें, इत्यादि, ऐसे ही अर्थों के प्रतिपादक वाक्यों का नाम "इतिहास" है, हां यह सत्य है कि वेदों में पूर्वकालीन वंशों की वंशावली नहीं, और यह भी स्मरण रहे कि जो "पुराण" शब्द वेद में आया है वह इन पुराणों को वाचक नहीं, जैसाकि आजकल पुराणों का यह लक्षण है कि:-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं विप्र पुराणं पंच लक्षणम् ॥

ब्रह्म वै. कृ. ज. अ. १३३

अर्थ-सर्ग=सृष्टि की उत्पत्ति, प्रतिसर्ग=अवान्तर सृष्टि की उत्पत्ति, वंश=वंशावली का वर्णन, मन्वन्तर=स्वयम्भु आदि मनुओं का वर्णन और वंशानुचरित=वंशों के चरित्र=आचार व्यवहार का वर्णन, यह पांच बातें जिसमें हों उसका नाम पुराण है ।

भाव यह है कि पुराण एक प्रकार की सृष्टि उत्पत्ति की पुरातन विद्या है, या यों कहो कि प्रत्येक सर्ग के आदि में जो सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम कहाजाता है उसका नाम "पुराण" है, और वह प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी उसको नवीन कहाजासकता है, जैसाकि "सूर्य्याचन्द्रमसौ०" इस मन्त्र में प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ का कथन किया है, इसी अभिप्राय से कई एक आचार्य्य ब्राह्मणग्रन्थों को भी पुराण कथन करते हैं, अस्तु—मुख्य प्रसङ्ग यह है कि इन आधुनिक पुराणों को प्राचीन ग्रन्थों में पुराण नहीं मानागया, क्योंकि यह सब पुराण प्रायः विक्रमादित्य के समकालीन हैं अर्थात् उन्हीं के समय में बने हुए पाये जाते हैं, जैसाकि श्रीमद्भागवत में धन्वन्तरी को अवतार माना है और यह विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न थे, एवं पाणिनि आदि कई एक अर्वाचीन ग्रन्थकारों का भी वर्णन इन पुराणों में पाया जाता है, इत्यादि हेतुओं से भागवतादि वह पुराण नहीं जिनका नाम वेदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में वर्णित है, जैसाकि छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन किया है कि "इतिहास पुराणः पंचमो वेदानां वेदः" छान्दो० ७। १। ४=इतिहास और पुराण वेदों में पांचवां वेद है, इस वाक्य में जो इतिहास तथा पुराण शब्द आये हैं उनसे ब्राह्मणग्रन्थों का तात्पर्य्य है इन अर्वाचीन पुराणों का नहीं, क्योंकि छान्दोग्य के समय में महाभारतादि इतिहास तथा भागवतादि पुराणों का नाम भी न था, और जो छान्दो० ३। १७। ६ में "कृष्णाय देवकी-पुत्राय" यह वाक्य पाया जाता है, इसमें घोर ऋषि के शिष्य कृष्ण का वर्णन है महाभारत के कृष्ण का नहीं, क्योंकि महा-भारत का कृष्ण घोर ऋषि का शिष्य न था, यदि नाममात्र आजाने से किसी व्यक्तिविशेष का वर्णन किया जाय तो

"इमे इन्द्र भरतपुत्राः" ऋग्० ३। ५३। २४ में जो "भरत" शब्द आया है उससे शकुन्तला के पुत्र का ग्रहण क्यों न कियाजाय, पर ऐसा करना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि यह भरत राजा दुष्यन्त का पुत्र था जो वैदिकसमय से बहुत पीछे हुआ है उसकी वेद में कथा ही क्या, उक्त मन्त्र में जो "भरत" शब्द आया है वह संज्ञावाचक नहीं किन्तु यौगिक है अर्थात् अपनी विविध विद्याओं से भरपूर करने वाले का नाम यहां "भरत" है वेद में किसी व्यक्तिविशेष का नाम भरत नहीं, अस्तु—मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वेद में भरतादि राजाओं की वंशावली तथा विश्वामित्र, वसिष्ठादि व्यक्तिविशेषों का वर्णन न होने पर भी वेद में ऐतिहासिक विद्या अवश्य है अर्थात् "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्" ऋग्० १०। १२९। ६ इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा के इस विशाल विश्व का इतिहास है "स्वधया तदेकं" ऋग्० १। ६४। ४ इत्यादि मन्त्रों में प्रकृति तथा पुरुष के सम्बन्ध का इतिहास है, "त्रिशच्छतं वर्मिण इन्द्र साकम्" ऋग्० ६। २७। ६ इत्यादि मन्त्रों में क्षात्रधर्म के योद्धाओं का वर्णन है "मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्" ऋग्० ७। ८९। १ इत्यादि मन्त्रों में मनुष्यों के ऐश्वर्य्य का वर्णन है "इमं मे गंगे यमुने" ऋग्० १०। ७५। ५ इत्यादि मन्त्रों में गंगा यमुना से पवित्रीकृत भारतवर्ष का इतिहास है, और "यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं" ऋग्० २। १२। ११ इत्यादि मंत्रों में उत्तरीय हिमालय प्रान्त में वेदों के आविर्भाव का इतिहास है, एवं वेद सर्वविद्याओं का भाण्डार होने के कारण इतिहास विद्या का भी भाण्डार है, अतएव कोई दोष नहीं, यही नहीं समुद्रयात्रा का वर्णन भी वेद के अनेक स्थलों में आया है, जैसाकि ऋग्० ४। ५५। में

वर्णन किया है कि जो धन कमाना चाहे वह समुद्र की विद्या को जानकर जलयात्रा करे, इसी प्रकार ऋग्० ७। ८८ मण्डल में लिखा है कि जहाजों पर सवार होकर समुद्र की यात्रा करने वाले अत्यन्त आनन्द अनुभव करते हैं, एवं अन्य मण्डलों में भी स्पष्ट वर्णन पाया जाता है जिसको विस्तारभय से यहां नहीं लिखते, अधिक क्या सुवर्ण का सिक्का जिसका नाम "निष्क" है और जो आजकल की सभ्यता का मुख्यसाधन माना जाता है उसका वर्णन भी विस्तृत रीति से वेद में आया है, जैसाकि ऋग्० १। १२६। २ में स्पष्ट रीति से वर्णन किया है कि " शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान् " = जो पुरुष ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजा का सेवन करता है वह सौ निष्क = दीनारों वा सुवर्ण के सिक्कों को प्राप्त होता है, अतएव सिद्ध है कि वैदिक समय में दीनार वा मोहर = सुवर्ण के सिक्के कई प्रकार के थे, इसी प्रकार वैदिक सभ्यकाल में अनेक अस्त्र शस्त्रों के नाम वेदों में आये हैं और अनेक प्रकार के वस्त्र तथा आभूषणों के नामों का भी वेद में विशदरूप से वर्णन है।

जो लोग वेदों के आध्यात्मिक अर्थों पर ही विश्वास करते हैं कि वेदों में ईश्वर की स्तुति प्रार्थना आदि ही है ऐश्वर्य्य सम्पादन का वर्णन नहीं, वह हमारे उक्त लेख पर अवश्य रुष्ट होंगे कि वेदों में रूढ़ वा योगरूढ़ शब्दों का क्या तात्पर्य्य ? यदि वेदार्थ को विचारपूर्वक देखाजाय तो उनको भी मानना पड़ेगा कि वेदों में योगरूढ़ शब्द भी अनेक हैं अन्यथा निष्क के अर्थ जो आचार्य्यों ने मोहर के किये हैं वह योगरूढ़ माने विना कैसे करसकते थे, अस्तु—यहां उक्त शब्दों के शब्दार्थ पर विचार करने की आवश्यकता नहीं, मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वैदिककाल की सभ्यता बहुत चढ़ी बढ़ी थी अर्थात्

उस काल की न्यायव्यवस्था पर दृष्टि डाली जाती है तो ज्ञात होता है कि आर्य्य तथा अनार्य्य एकदृष्टि से देखे जाते थे, कोई जाती हो जब तक उसमें पक्षपात रहता है तबतक वह सभ्य नहीं गिनी जाती, उस समय की आर्य्यजाति का यह गौरव प्रशंसनीय है कि वह पक्षपात से सर्वथा शून्य थी, जैसाकि "यो नः दास आर्यो वा" ऋग्० १० । ३८ । ३ इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट वर्णन किया है कि आर्य्य भी यदि अपराधी हो तो वह भी दण्डनीय है, एवं आर्य्यजाति के युद्धनियम भी सब जातियों से उच्च थे, आर्य्य लोग खाली हाथ को नहीं मारते थे, शरणागत को नहीं मारते थे, रोगी, वृद्ध, बच्चों और स्त्रियों पर शस्त्रप्रहार नहीं करते थे, यह उस समय की अपूर्व सभ्यता थी, शिल्पविद्या का इतिहास भी उस समय का अपूर्व है जिसमें नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का वर्णन पाया जाता है अर्थात् युद्ध के अस्त्र शस्त्रों का ऋग्वेद में पूर्णतया वर्णन है, अधिक क्या तलवार, धनुष, निषङ्ग तथा नानाविध विद्युत् के शस्त्रों का वर्णन निम्नलिखित मन्त्र में स्पष्ट है:–

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान
इषुमन्तो निषङ्गिणः । स्वश्वाः स्थ सुरथा–
पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥

ऋग्० ५।५७।२

इस मंत्र में ही नहीं किन्तु सूक्त ५७ में विद्युत् सम्बन्धी अनेक अस्त्र शस्त्रों का विस्तृतवर्णन है, उक्त मन्त्र में "निषङ्ग" के अर्थ तोप तथा बन्दूक के हैं, जैसाकि "निसज्यन्ते गोलकादिकं अत्र इति निषंगः" = जो गोली तथा गोलों के भरने=डालने का स्थान हो उसका नाम यहां "निषङ्ग" है, जो लोग

निषंग के अर्थ "बाण" मात्र के करते हैं, यह उनकी भूल है, क्योंकि इसी मन्त्र में "इषु" पद पड़ा है जिसका अर्थ "बाण" है, यदि निषंग शब्द का प्रयोग भी इषु के अर्थों में कियाजाय तो अर्थ सर्वथा पुनरुक्त होजाता है, अतएव "निषंग" शब्द के अर्थ यहां बन्दूक तथा तोप के हैं, इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्य स्थलों में भी अस्त्र शस्त्रों तथा अनेक प्रकार की शिल्पविद्याओं का वर्णन है और पत्थर तथा सुवर्ण की पच्चीकारीयुक्त घरों का बनाना, गाड़ी, घोड़े, रथ तथा समुद्रयात्रा के साधन जहाजों का ऋग्वेद के अनेक स्थलों में उल्लेख आया है जिसको यहां विस्तारभय से उद्धृत नहीं किया, यहां केवल बीजरूप से इतना और दर्शाते हैं कि ऋग्० ४ । ३० । २० में पत्थर के बने हुए सैकड़ों नगरों का वर्णन है जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिकसमय में पत्थर के शिल्प की विद्या भारतवर्ष में विशेष रूप से पाई जाती थी, और जो यह कहा जाता है कि प्राचीन आर्य्यलोग फूंस की झोंपड़ियों में रहते थे यह सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि उक्त मन्त्र में सहस्र खंभों वाले मकानों का वर्णन है, जैसाकि ऋग् २ । ४१ । ५ में वर्णन किया है कि "राजानावनभिद्रुहाध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्रस्थूण आसाते" जो अध्यापक और उपदेशक सहस्रों खंभों वाले विश्वविद्यालयों में बैठते हैं उनसे शिक्षा लेनी चाहिये, एवं ऋग्० ५ । ६२ । ६ में भी इसी प्रकार के विशाल भुवनों का वर्णन है, कहांतक लिखें ऋग्वेद के सूक्तों के सूक्त शिल्पविद्या से भरे पड़े हैं जिस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं ।

यहां यह बात भी विशेष मीमांसा योग्य है कि काष्ठ, धातु, पत्थर तथा नाना प्रकार की शिल्प के होने पर भी बौद्धधर्म से प्रथम किसी प्रकार की भी ईश्वर की प्रतिमा का

निर्माण हिन्दुओं की शिल्पविद्या में नहीं पाया जाता, इससे स्पष्ट प्रसिद्ध है कि आधुनिक मूर्तिपूजा का वैदिककाल में गन्ध भी न था यदि होता तो पत्थर तथा अन्य धातुनिर्मित गृहों के समान ब्रह्मा, विष्णु, गणेश तथा महेशादि नाना देवताओं की मूर्तियों का भी वर्णन होता, अतएव वेदों से मूर्तिपूजा निकालना साहस मात्र है।

अन्य युक्ति यह है कि यदि वेदों में मूर्तिपूजा का वर्णन होता तो जब यज्ञीय यूपनिर्माण तथा यज्ञ के स्तम्भ निर्माण की विद्या वेदों में विशाल रूप से पाई जाती है अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी रथों के निर्माणसमान स्तम्भों का निर्माण भी वेदों में स्थान २ पर पाया जाता है तो फिर मूर्तियों के निर्माण का वर्णन वेदों में क्यों न होता, परन्तु कहीं वर्णन न पाये जाने से सिद्ध है कि मूर्तिपूजा बौद्धकाल के अनन्तर हिन्दुओं में प्रवृत्त हुई है इससे प्रथम न थी, अस्तु—मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वैदिककाल की सभ्यता इतनी चढ़ी बढ़ी थी कि सूर्य्य के द्वारा रंग बनाना वा रंग उड़ादेना आर्यों को भलीभांति आता था, इस विषय को ऋग्० १०। २६। ६ में स्पष्ट रीति से वर्णन किया है कि:—

अधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च।
वासो वायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥

सब दीप्तियों का पति सूर्य्य सबप्रकार के वस्त्रों को रञ्जित तथा शुद्ध करता है जिसको आजकल का साइंस बड़ी कठिनता से जानसका है कि सूर्य्य से ही सबप्रकार के रंग आते और सूर्य्य ही सब पदार्थों की शुद्धि का कारण है, इस विषय को प्राचीन वैदिकलोग सुलभ रीति से भले प्रकार जानते थे जिसका कारण यह है कि परमात्मा ने सर्वविद्या भण्डार वेदों का ज्ञान आदिसृष्टि में

आर्य्यवर्तनिवासी ऋषियों को ही प्रदान किया था और ऋषियों द्वारा समस्त भूमण्डल में सब विद्याओं का प्रचार हुआ इसी कारण वेद को सम्पूर्ण विद्याओं का भाण्डार माना जाता है।

और जो हम पीछे यह लिख आये हैं कि वेदों के समय में अनेक प्रकार के सिक्के तथा शिल्पविद्यायें थीं उसका मुख्य तात्पर्य्य यही है कि परमात्मा ने वेदों द्वारा आदिसृष्टि में यह सब ज्ञान दिये, जो लोग ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक सभ्यता को समझना चाहते हैं उनके लिये हमने ऐतिहासिक अर्थ किये हैं।

और जिन लोगों का यह विचार है कि वेद आर्य्यों के सिन्धु नदी से गंगा यमुना तक आते २ शनैः २ बने हैं, उनको यह भी विचारना चाहिये कि ऋग्वेद-प्रथममण्डल में ऐसे अनेक पदार्थों के नाम हैं जो समुद्रतट वा उत्तरध्रुव के समीप पाये जाते हैं, इस विषय को हम पीछे लिख आये हैं, यहां यह दर्शाना आवश्यक है कि जिसप्रकार सिन्धु नदी का नाम वेद में है इसीप्रकार सरस्वती सहित सातो नदियों का नाम भी ऋग्० ७ । ३६ । ६ में आया है जिसमें स्पष्ट प्रकार से लिखा है कि:—

आ यत्साकं यशसोवावसानाःसरस्वतीसप्तथीसिन्धुमाता ।
याःसुष्वयन्त सुदुघाःसुधारा अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः ॥

सरस्वती अन्य छ नदियों के साथ सङ्गति करती हुई सिन्धु की माता के समान और जो सब कामनाओं के पूर्ण करने वाली है वह केवल अपने ही जल से वर्धमान है, जब वेदों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि वैदिकसमय में सरस्वती नदी इतनी बढ़चढ़कर बहने वाली थी

कि उसमें अन्य किसी नदी के जल की अपेक्षा न थी अर्थात् उसका जल स्वयं प्रबलवेग से बहता था इसी कारण वेद में अन्य सब नदियों से बढ़कर सरस्वती का नाम आने के कारण, यह मुख्य मानी गई है।

जो लोग वेदों के केवल आध्यात्मिक अर्थ करते हैं वह अवश्य कहेंगे कि सरस्वती के अर्थ यहां नदी करना ठीक नहीं, हमारी समझ में भी जब आध्यात्मिक अर्थ किये जाते हैं तो सरस्वती के अर्थ वाणी और सिन्धु के अर्थ सात स्वरों से स्यन्दन = बहने वालों के हैं, पर जब आधिभौतिक अर्थ किये जायं तो सरस्वती के अर्थ नदी करने में कोई दोष नहीं।

अन्य युक्ति यह है कि जो लोग केवल आध्यात्मिक अर्थ करके वेदों को दूषित करते हैं उनके निराकरणार्थ आधिभौतिक अर्थों द्वारा सरस्वती के अर्थ नदी करके यह सदुत्तर देना है कि वैदिकसमय की सम्पूर्ण प्रसिद्ध २ नदियें जो आर्य्यवर्त में बहती थीं उन सब का नाम वेद में आने से यह बात कट जाती है कि वैदिककाल में आर्यों का सर्वत्र आर्य्यवर्त देश में अधिकार न था। और केवल सिन्धुनदी के तट पर ऋग्वेद का बनना मानना सर्वथा भूल है, यद्यपि इस विषय का खण्डन हम पूर्व भी कर आये हैं तथापि प्रसङ्ग सङ्गति से पुनः खण्डन करना कुछ दोषयुक्त नहीं प्रत्युत वार २ अभ्यास से वेदों के ऐश्वर्य्यशाली होने को दृढ़ करना है, अतएव उक्तार्थ पुनरुक्त नहीं।

सामाजिक सभ्यता में आर्यों को असभ्य तथा किसान सिद्ध करने के लिये कई एक यूरोपनिवासी ऋग्० १। ११७। २१ मन्त्र का प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं कि इस मन्त्र में आर्यों को बीज बोना तथा हल जोतना अश्विनीकुमारों ने सिखलाया है, वास्तव में इस मन्त्र के यह अर्थ नहीं किन्तु यह भाव है

कि अध्यापक तथा उपदेशक लोग आर्य्य=ईश्वरपुत्रों में ज्योति का प्रचार करें, मन्त्र इस प्रकार है कि:—

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषायदस्रा ।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्य्याय ॥

ऋग्० १ । ११७ । २१

अश्विना = सूर्य्य तथा चन्द्रमारूप दोनों ज्योतियें अपने उत्तम रसोंसे "यवं"=यवादि अन्नों को सिंचन करतीं, और अन्धकाररूप "दस्यु" = दस्युओं का विनाश तथा "आर्याय" = आर्यों के लिये ज्ञानरूप ज्योति का प्रकाश करती हैं, निरुक्त० ६ । २६।२ में "आर्य्य ईश्वर पुत्रः" = ईश्वर के पुत्रों का नाम "आर्य्य" है, और "अर्य्य" नाम निरुक्तकार ने ईश्वर का माना है, जैसाकि "अर्य्यस्त्वमसि" निरु० ५ । ८ । ३ में स्पष्ट है, अतएव सिद्ध है कि उक्त मन्त्र में आर्यों को किसान नहीं माना किन्तु परमविद्वान् वर्णन किया है अर्थात् जो एकमात्र सजातीय विजातीय तथा स्वगतभेदशून्य अर्य्य = ब्रह्म के उपासक हों उनका नाम वेद में "आर्य्य" है किसान का नहीं ।

और जो यह कहा जाता है कि सीता हल की लीक थी अर्थात् हल की लीक को सीता कहते हैं सीता कोई स्त्री नहीं हुई, यह कल्पना भी सर्वथा वेदविरुद्ध है, क्योंकि "सिञ्—बन्धने" से "सीता" शब्द बना है जिसके अर्थ "मर्यादा" के हैं, अतएव वेद में जहां सीता का वर्णन आया है वहां सर्वत्र मर्यादा के अर्थों में समझना चाहिये, हल की लीक के अर्थ करना सर्वथा असङ्गत हैं ।

इसी प्रकार "क्षेत्र" शब्द के अर्थ भी अन्न की उपजाऊ भूमि करके वेदों को एक प्रकार के जंगली किसानों की पुस्तक

सिद्ध की गई है, परन्तु वास्तव में "क्षेत्र" शब्द के अर्थ सन्मार्ग और सन्मार्ग के ज्ञाता पुरुष का नाम क्षेत्रज्ञ है, गीता में जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञाध्याय पाया जाता है वह ऋग्० १०।३२।७ से लिया गया है, जैसाकि "अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः" इस मंत्र में वर्णन किया है कि जो पुरुष सन्मार्ग को नहीं जानता वह सब सत्यमार्गों के ज्ञाता परमात्मा की कृपा से सुशिक्षित होकर सब सन्मार्गों को जान लेता है, और यदि इसके प्राकृत अर्थ किये जायं तो यह अर्थ होते हैं कि जो खेती की विद्या को नहीं जानता उसको कृषी विद्या का ज्ञाता उक्त विद्या सिखलाता है, इसी प्रकार मिथ्यार्थ करके मिस्टर आर० सी० दत्त ने यह लिखा है कि वैदिकसमय के लोग आर्य्य = किसान थे, इसी कारण वेद के अनेक सूक्तों में कृषा विद्या का वर्णन है उच्चशिक्षा वेदों में नहीं, उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि वेदों में विस्तारपूर्वक राजधर्म = राजा के गुणों का वर्णन पाया जाता है कि राजा इस प्रकार का होना चाहिये जिससे प्रजा की वृद्धि हो और सुख बढ़े, एवं स्थलयात्रा के साधन यानादिकों का वर्णन तथा जलयात्रा के साधन जहाजों का वर्णन है अर्थात् समुद्र पार जाने आने के लिये विस्तृत जहाजों का वर्णन स्पष्टतया वेदों में पाया जाता है, अधिक क्या ज्ञान, उपासना, कर्म तथा विज्ञानकाण्ड का वर्णन विस्तारपूर्वक वेदों में पाया जाता है, अतएव वेदवेत्ता आर्य्यजाति को कृषक तथा असभ्य सिद्ध करने वालों के आक्षेप सर्वथा निस्सार हैं, या यों कहो कि वेदानभिज्ञ पुरुष जिन्होंने परमात्मा के ज्ञानरूप वेदों का उच्चदृष्टि से अवगाहन नहीं किया वही ऐसी निस्सार कल्पना करसकते हैं वेदज्ञ = वेदों के तत्वार्थ को जानने

वाले ऐसी कल्पनाओं के कल्पक कदापि नहीं हो सकते।

और जो मिस्टर आर० सी० दत्त ने ऋग्० मण्ड० ४ सूक्त ५७—५८ कृषीविद्या विषयक उद्धृत किये हैं इन्हीं सूक्तों के अन्त में समुद्र की विद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और इन सूक्तों में सायणाचार्य्य ने भी समुद्र के अर्थ विजुली की विद्या के किये हैं कि "संमोदन्ते जना अस्मिन् इति समुद्रः" = जिस विद्युत् विद्या में प्रवृत्त हुए पुरुष आनन्द लाभ करें उसका नाम "समुद्र" है, अस्तु—समुद्र के अर्थ जल हों वा अन्तरिक्ष अथवा अग्नि = विद्युत हों, इसमें हमें कोई विवाद नहीं, विचार योग्य बात यह है कि वेद सम्पूर्ण विद्याओं का भाण्डार होने के कारण इसमें अग्न्यादि क्रम से सृष्टि का कथन किया है अर्थात् तेजोमय प्रदीप्त अग्नि से सहस्र प्रकार की गतियुक्त लहरें इस विश्व के आदि कारण में उत्पन्न हुईं, इसी भाव को "अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" तैत्ति० २। १। ३ इस उपनिषद्वाक्य में वर्णन किया है कि अग्नि से द्रवीभूत होकर जलों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार तत्वों की उत्पत्ति के साइंस को वेदों ने भलीभांति समर्थन किया है, फिर कैसे कहाजासकता है कि वेद केवल कृषक लोगों के बनाये हुए होने से इनमें साइंस वा अन्य विद्यायें नहीं, हमारे विचार में सामाजिक जीवन का आधार एकमात्र वेद ही है, क्योंकि पहिले पहल सामाजिक जीवन का उपदेश सम्पूर्ण भूमण्डल में वेदों द्वारा ही हुआ है, जैसाकि "चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा" ऋग्० ४। ५८। ३ इस मंत्र में यज्ञ द्वारा सामाजिक जीवन का उपदेश किया है अर्थात् ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व यह चारो वेद शृंग = मुख्य शिरोधार्य्य होने से शृंगवत् कथन किये गये हैं अर्थात् जिस

प्रकार शरीरांगों में शिर मुख्य है इसी प्रकार भूमण्डल के सम्पूर्ण ग्रन्थों में वेद मुख्य माना गया है, और प्रातः, मध्य तथा सायं यह तीन सवन यज्ञ के पादस्थानीय हैं, एवं ग्रीष्म, वर्षा तथा हेमन्त इन तीन ऋतुओं से बंधा हुआ वृषभ रोरवीति = सामाजिक सभ्यता का उपदेश कर रहा है।

'भाव यह है कि वैदिकयज्ञों में ही सदाचार = यमनियमादि साधनों का व्याख्यान किया जाता था जिससे लोग धर्मपरायण होकर सामाजिक सभ्यता में पूर्ण प्रकार से कुशल होते थे, अधिक क्या, वैदिककाल में सामाजिक नियम बड़ी उत्तम रीति से पालन किये जाते थे जो आजतक किसी जाती में भी वैसे नियम नहीं पाये जाते, वैदिककाल में वर्णाश्रम की व्यवस्था भी कर्म तथा अवस्था भेद से मानी जाती थी, जो पुरुष वेदाभ्यास के समय ब्रह्मचारी होता था वही संसार में प्रविष्ट होने के कारण गृहस्थी, वही गृहस्थी त्यागकर वन में रहने के कारण वानप्रस्थ और वही ब्रह्मज्ञानी होकर निष्काम कर्म करने वाला होने से संन्यासी बन जाता था, इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन हमने ऋग्वेदभाष्य "नवममण्डल" के अंत में किया है, इसी प्रकार ब्राह्मणादि चारो वर्णों का वर्णन भी इसी ग्रन्थ में पूर्व कर आये हैं।

अब विचारणीय यह है कि वेद में आध्यात्मिक अर्थात् ब्रह्मविद्या अथवा योग का वर्णन किसप्रकार और किन २ स्थानों में है? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मविद्या का वर्णन वेद के अनेक स्थलों में वर्णित है, जैसाकि "युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः" ऋग् १०।१३।१ इस मन्त्र में गुरु शिष्य, स्त्री पुरुष और राजा प्रजा, इन सबके ब्रह्म = ईश्वर के साथ जुड़ने = योग करने का विधान किया है जिसकी विधि "युंजन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः। रोचन्ते रोचनादिवि" यजु० २३।५ इस मन्त्र में

यों वर्णन की है कि जो योगाभ्यास द्वारा उस परमात्मा से "युंजन्ति" जुड़ते अर्थात् अपने आत्मा को परमात्मा के समीपस्थ करते हैं वह द्युलोक की दिव्य ज्योतियों के समान चमकते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिककाल में आर्य्य लोग आध्यात्मिक योग को भलेप्रकार जानते थे, यही आध्यात्मिक योग वेद से कठादि उपनिषदों में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

कठ० ६ । ११

जिस अवस्था में इन्द्रियों की धारणाशक्ति स्थिर होजाती है, और चित्त बाह्य विषयों से निवृत्त होकर ध्यानादि द्वारा एकमात्र परमात्मा में लीन होजाता है, इसी अवस्था का नाम आध्यात्मिक योग वा वैदिकयोग है ।

जो लोग वेदों की आध्यात्मिक विद्या के वेत्ता नहीं वह प्रायः यह कहा करते हैं कि वेदों में जल स्थल की पूजा तथा वरुणादि देवताओं से भिन्न अन्य कोई परमार्थ की बात नहीं, और यदि कुछ है भी तो ऋग्वेद के दशममण्डल में ब्रह्म का वर्णन आया है अर्थात् वेदों के बनाने वाले पिछले नौ मण्डलों का निर्माण करके जब दशममण्डल तक पहुंचे तो उनको कुछ २ उस अचिन्तनीय शक्ति का भी ज्ञान हुआ जिसको ब्रह्म वा ईश्वरादि नामों से कथन किया जाता है, उनका यह लिखना सर्वथा साहसमात्र है, क्योंकि ईश्वर की सर्वोपरि आध्यात्मिक विद्या जिसको ऊपर योग नाम से कथन कर आये हैं उसका वर्णन न केवल उपनिषदों अथवा योगशास्त्र में ही पाया जाता है किन्तु निम्नलिखित मन्त्र में इसप्रकार वर्णन किया है कि:—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋग्० १ । १८ । ७

जिस सर्वज्ञ परमात्मा से विना यज्ञकर्म की सिद्धि नहीं होती वह परमात्मा मनुष्य की बुद्धियों में योगरूपबुद्धि का प्रेरक है, इस मन्त्र में " योग " शब्द स्पष्ट रीति से आया है, जिस बुद्धियोग से सब कर्म नीचे हैं उसी बुद्धियोग का उक्त मन्त्र में वर्णन है, और इसी भाव को गीता में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
गी० २ । ४८

हे अर्जुन ! बुद्धिरूप योग से सब कर्म छोटे हैं, इसलिये बुद्धिरूप योग = परमात्मरूप बुद्धि में शरण को ढूंढ़ अर्थात् बुद्धिरूप योग की शरण को ग्रहण कर, पाठकगण ! क्या यह छोटी बात है जो इतने उच्च पद की बात ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में पाई जाती है, फिर यह लिखना कि वैदिककाल में इन्द्रियागोचर तत्वों के निरूपण करने वाले दर्शन फिलासफी का वर्णन नहीं कहां तक ठीक मानने योग्य है ।

यह हम पीछे लिख आये हैं कि वेद में ब्रह्मविद्या का वर्णन स्पष्टतया विस्तारपूर्वक पाया जाता है जो शोक मोह की निवृत्ति का कारण है, इसी भाव को वेदों से उपनिषदों में इस प्रकार ग्रन्थन किया गया है कि " अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति " कठ० २ । १२ = परमात्मा के आध्यात्मिक योग से ही धीर पुरुष हर्ष शोक से निवृत्त होजाता है, अधिक क्या, शोकमोह की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द

की प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मामृतरूप मुक्ति का साधन एकमात्र वेद ही है, और इसीलिये निम्नलिखित मन्त्र में यह दर्शाया है कि "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" यजु० ४० । ७ = जो पुरुष उस परब्रह्म की एकमात्र सत्ता का अनुभवी है उसको शोक मोह की निवृत्तिरूप मुक्ति प्राप्त होती है अन्य को नहीं, इस प्रकार वेद में सर्वत्र ब्रह्मयोग का वर्णन स्पष्ट रीति से पाया जाता है।

और जो लोग वेद के गूढ़ाशय को न समझकर यह दोष लगाते हैं कि जो गड़रियों का देवता था उसका नाम पूषा है और उसी का वेद में वर्णन है, उस पूषन् देव से बहुत प्रकार की प्रार्थनायें कीगई हैं जो वेद की लघुता को सिद्ध करती हैं, इसका उत्तर यह है कि सबका पोषक तथा सब प्रकार की पुष्टी देने वाले परमात्मा का नाम वेद में "पूषा" है, और गौणीवृत्ति से पूषन् सूर्य्य को भी कहसकते हैं परन्तु मुख्यवृत्ति से परमात्मा का ही नाम है, जैसाकि यजु० ४० वें अध्याय से उद्धृत ईशोपनिषद्० १५ में वर्णन किया है कि:—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

हे परमात्मन् ! इस संसार में सुवर्णादि चमकीले पदार्थों की चमक दमक से सत्य का मुख ढका हुआ है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोहादि ढकने से सत्य छिपा हुआ है सो हे सब के पोषक पूषन् = परमात्मन् ! आप कृपाकरके उस ढकने को दूर करें ताकि हम आपके स्वरूप को भलेप्रकार दर्शन करसकें।

पाठकगण विचार करें कि इस मन्त्र का कैसा ही उच्च भाव है जिसको न समझकर अल्पश्रुत लोगों ने अन्यथा अर्थ

करके कैसा बिगाड़ा है, वास्तव में दिव्यदृष्टि से देखा जाय तो सांसारिक काम क्रोधादि शत्रु मनुष्य को परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होने देते, या यों कहो कि इसी लोभ मोहादि बन्धनों से जकड़ा हुआ पुरुष मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय से सर्वथा वंचित रहता है, इसी अभिप्राय से इससे प्रथम मन्त्र अर्थात् यजु० ४० । १६ में यह वर्णन किया है कि " अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् " = हे अग्ने = प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप विद्वान् = सब विद्याओं के जानने वाले तथा हमारे कर्मों के ज्ञाता हैं, कृपाकरके हमको सुमार्ग से ले चलें जिससे हम ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय का लाभ करसकें, यदि उक्त मन्त्र में " पूषा " गड़रियों का देवता होता तो ऐसा सारगर्भित तथा सङ्गतिबद्ध उपदेश कदापि न पाया जाता कि आप हमारे सम्पूर्ण दुर्गुणों को दूर करके एकमात्र अपने स्वरूप का साक्षात्कार करायें ।

भाव यह है कि दुर्गुणों की निवृत्तिपूर्वक परमात्मा की प्राप्ति कराने का साधन एकमात्र वेद ही है परन्तु अल्पश्रुत लोग वेदाशय को न समझकर मनमाने अर्थ करके वेद के गौरव को नष्ट करते हैं, अधिक क्या, जैसा आध्यात्मिक वर्णन वेद में वर्णित है वैसा उस समय के ग्रन्थों में भी नहीं पाया जाता जिस समय आर्य्यों का एकमात्र उद्देश्य ब्रह्मविद्या ही थी, वह समय वह था जिसको उपनिषदों का समय कहाजाता है उस समय में भी ऐश्वर्य्यप्राप्ति तथा ब्रह्मप्राप्ति का ऐसा कोई सारगर्भित उपदेश नहीं पाया जाता जैसा उक्त मन्त्रों में वर्णित है, यदि यह कहा जाय कि यजुर्वेद के समय में वेदान्त = ब्रह्मदर्शन = ब्रह्म फ़िलासफ़ी का जन्म होगया था पर

याद रहे कि ऋग्वेद में गड़रियों के गीतों का देवता पूषा ही था, इस आक्षेप का उत्तर यह है कि वेदों के तत्व से जो लोग अनभिज्ञ हैं उनको ऐसा प्रतीत होता है परन्तु वेद में जिस पूषा का निरूपण किया गया है वह ऋग्वेद की परिभाषा में औपनिषद पुरुष है, दर्शनकारों ने भी उसी पूर्ण पुरुष को एक मात्र धर्म का मूल माना है, और चारो वेदों में वर्णित पुरुष-सूक्त उसी का वर्णन करता है फिर उसको प्राकृत पुरुषों का ही उपास्यदेव कहना सर्वथा भूल है, अधिक क्या, उक्त विषय को पुष्ट करने तथा पाठकों को भलेप्रकार बोध कराने के लिये हम यहां ऋग्वेद षष्ठ मण्डल में वर्णित "पूषा" सूक्त ५४ को उद्धृत करते हैं जिससे ज्ञात होगा कि परमात्मा का नाम ही "पूषा" है यह शब्द अन्य किसी देवता का वाचक नहीं।

१—संपूषन्विदुषा नय यो अंजसानुशासति। यएवेदमिति ब्रवत्॥
२—समुपूष्णा गमेमहियो गृहां अभिशासति। इमएवेतिचब्रवत्॥
३—पूष्णश्चक्रंन रिष्यति न कोशोऽवपद्यते। नो अस्य व्यथतेपविः॥
४—यो अस्मै हविषाविधन्न तं पूषापि मृष्यते। प्रथमो विन्दते वसु॥
५—पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः॥
६—पूषन्ननुप्रगाइहि यजमानस्य सुन्वतः। अस्माकं स्तुवतामुत॥
७—माकिर्नेशन्माकींरिषन्माकींसंशारिकेवटे। अथारिष्टाभिरागहि॥
८—शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसं। ईशानं राय ईमहे॥
९—पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन। स्तोतारस्त इह स्मसि॥
१०—परिपूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणं। पुनर्नो नष्टमाजतु॥

अर्थ—(१) हे पूषन्! आप ऐसे विद्वान् पुरुष के उपदेश द्वारा हमको चलावें जो हमें सन्मार्ग बताकर हमारी सब प्रकार की अवनति दूर करके हमको अभ्युदयशाली बनावे॥

(२)—हे पूषन् = सर्वपोषक परमात्मन् ! आप हमें ऐसे शिक्षकों द्वारा शिक्षा करायें जो चारों आश्रमों की विद्या का उपदेश करके हमारे जीवन को उच्च बनावें ॥

(३)—हे पूषन् ! आपका दण्ड किसी अवस्था में भी रुक नहीं सकता और आपका कोष = भाण्डार सदैव परिपूर्ण रहता है उसमें कभी किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होसकती ॥

(४)—जो पुरुष परमात्मपरायण होकर जप तप तथा यज्ञादि कर्म करने वाले और वेदोक्त धर्म पर चलने वाले होते हैं वही सब से प्रथम ऐश्वर्य्य के स्वामी बनते हैं ॥

(५)—हे पूषन् ! आप हमारी सब ज्ञानेन्द्रियों को पवित्र करें, हे सर्वव्यापक ! हमारे विज्ञान की रक्षा करो और वही सर्वपोषक परमात्मा हमारे यश की रक्षा करे ॥

(६)—वह "पूषा" = परमात्मा शान्ति शीलादि गुणों के धारण करने वाले पुरुषों का सदैव रक्षक है ॥

(७)—उस "पूषा" = परमात्मा की कृपा से हमारा ऐश्वर्य्य कदापि नष्ट न हो और हमारी शिल्पादि सब विद्यायें सदैव उन्नति को प्राप्त हों ॥

(८)—हे पूषन् ! आप ऐसी कृपा करें कि हम सदैव आपके अनन्तगुणों का श्रवण करें और उस सर्व पोषक से ही हम ऐश्वर्य्य की याचना किया करें किसी अन्य से नहीं ॥

(९)—हे सर्वपोषक ! हम लोग आपके व्रत=नियम में ही सदैव चलें, आपकी आज्ञाओं को कदापि भंग न करें और सदैव आपके स्तुतिपाठक बने रहें ॥

(१०)—हे सर्वपोषक ! आप अपनी सर्वोपरिशक्ति से हमारे ऐश्वर्य की सदैव रक्षा करें ॥

इस सूक्त के उक्त दश मन्त्रों से "पूषा" देव का भाव भलीभांति समझ में आजाता है कि इसके अर्थ गड़रियों का देवता नहीं प्रत्युत सबका पालक, पोषक, रक्षक तथा सर्व नियन्ता परमात्मा का नाम "पूषा" है, इसी पूषा देव से "हिरण्मयेन पात्रेण" इस उक्त मन्त्र में सब प्रकार के प्रलोभनों से बचाकर एकमात्र उसके साक्षात्कार की प्रार्थना कीगई है कि उसके साक्षात्कार = यथार्थज्ञान से ही पुरुष उस पूर्ण पुरुष पूषा में शयन करने वाला होसकता है अन्यथा नहीं, इस प्रकार वेदों में उस पूर्ण पुरुष के अर्थों में "पूषा" शब्द आया है जिसको न समझकर अल्पदर्शी लोग गड़रियों के देवता को पूषा देव कहते हैं, अधिक क्या, इस सर्व पूज्य जगदीश की उपासना ऋग्यजुस्सामाथर्व तथा ईशादि उपनिषदों में सर्वत्र वर्णित है।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि इस आर्य्यावर्त्त देश की सभ्यता यहां तक बढ़ी हुई थी कि "एको हि देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः" इत्यादि मन्त्रों के अनुसार एक परमात्म देव ही सब से बड़ा देव माना जाता था, और उसी की शक्ति का नाम देवी था, जैसाकि "शन्नोदेवीरभिष्टय" यजु० ३६। १२ इत्यादि मन्त्रों में प्रसिद्ध है, जब भारतवर्षीय लोग वेद के मुख्य अर्थों को भूलकर कल्पित अर्थों के पीछे चल पड़े तब "काली कराली च मनोजवा च" मुण्ड० २। ४ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वर्णित अग्नि की सप्तजिह्वाओं को कल्पित देवी की जिह्वायें मानने लगे, इसी प्रकार "कृष्णा रूपाण्यर्जुना" ऋग्० १०। २१। ३ इत्यादि मन्त्रों से कृष्ण तथा अर्जुन का इतिहास वेद से निकालने लगे, वास्तव में इसके अर्थ कृष्ण=काले और अर्जुन = अग्नि के श्वेतरूप के थे, इसी अज्ञान के समय में

सीता को हल की लीक मानकर कई एक विदेशी और कई स्वदेशी विद्वान् "इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषा नु यच्छतु" ऋग्० ४ । ५७ । ७ इत्यादि मन्त्रों से यह तात्पर्य्य निकालने लगे कि इन्द = हालिक, सीता = हल की मुठिया को पकड़ता है, वास्तव में सीता के अर्थ यहाँ प्रकृति के थे, जैसाकि "सिनोति बध्नातीति सीता" = जो अपने रजस्तमसादि गुणों द्वारा पुरुष के बन्धन का हेतु हो उसका नाम यहां "सीता" है, और यही अर्थ निम्नलिखित मन्त्र से भी निकलते हैं, जैसाकिः—

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥

ऋग्० ४ । ५७ । ६

हे सीते = प्रकृते ! आप महत्तत्वादि कार्यों द्वारा नाना फलों की भोक्ता होकर सुभगा = सुन्दर फलों वाली हो, इस स्थल में जनक की पुत्री जानकी = सीता का अंशमात्र भी उल्लेख नहीं ।

इसी आविद्यिक समय में "उपसर्प मातरं भूमिम्" ऋग्० १० । १८ । १० इस मंत्र के यह अर्थ किये गये हैं कि वेद में मृतक के गाड़ने की विधि है जलाने की नहीं, यह अर्थ सर्वथा असङ्गत हैं, इस मन्त्र में पुरुषों को यह उपदेश किया है कि तुम भूमि माता की ओर बढ़ो अर्थात् अपनी मातृभूमि से प्रेम करके अपने जन्म को सफल करो, ऐसे सत्यार्थों को छोड़कर आविद्यिक = अंधकार के समय में वेदमन्त्रों के आशय को ऐसा बदला कि आगा पीछा कुछ न देखकर अनर्थ करने में प्रवृत्त होगये, और "कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाः" ऋग्० ४ । ७ । ९ इस मन्त्र के यह अर्थ किये हैं कि कृष्णा-

वतार कारागार में देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुआ,और छान्दो-ग्य० ३ । १७ का प्रमाण देकर यह लिखा है कि जिस कृष्ण का इस वाक्य में कथन है उसी का इस मन्त्र में वर्णन है, उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि महाभारत वाले कृष्ण का वर्णन छान्दोग्य में नहीं, इसको हम पीछे स्पष्टरूप से लिख आये हैं अर्थात् छान्दोग्य में घोरऋषि के शिष्य कृष्ण का वर्णन है इस कृष्ण का नहीं, और उक्त मन्त्र के अर्थ सायणाचार्य यह करते हैं कि हे अग्ने ! आपका मार्ग कृष्ण = काला है और आप उत्पन्न होते हुए ही देवताओं के दूत हैं अर्थात् वहने वाली सामग्री को दूरदेश में लेजाने वाले हैं, इस मन्त्र के सायणाचार्य्य ने वही अर्थ किये हैं जो ऋग्० १० । २१ । ३ में कृष्ण के अर्थ काले रंग के कर आये हैं, परन्तु कुछ समय के व्यतीत होजाने पर लोगों को इस मन्त्र में मथुरानिवासी कृष्ण का इतिहास सूझने लगा, यदि वास्तव में विचारकर देखाजाय तो इसी मन्त्र में नहीं प्रत्युत जहां २ वेद में "कृष्ण" शब्द आया है वहां कहीं भी कृष्ण के अर्थ यादववंशीय कृष्ण के नहीं किन्तु सर्वत्र काले रंग वा आक-र्षण करने वाले गुण के हैं, इससे यह तात्पर्य्य निकला कि उक्त मन्त्र किसी व्यक्तिविशेष को प्रतिपादन नहीं करता किन्तु आकर्षणगुणयुक्त विद्वान् का विधायक है कि हे विद्वन् ! आप विद्या द्वारा सबको अपनी ओर खींचते हैं तथा विद्या-रूप गर्भधारण करके विद्वानों की उत्पत्ति का कारण हैं अर्थात् विद्यारूप वंश विद्वानों से चलता है, यह उक्त मन्त्र का भाव था जिसको न समझकर अल्पश्रुत लोगों ने नाना प्रकार के आधुनिक इतिहास की कल्पना करली है, हमें उक्त कल्पनाओं का इतना खेद नहीं जितना ऋग्० ६ ।

५५।१।५ में वर्णित "मातुर्दिधिषुम्" तथा "स्वसुर्जारः" इत्यादि वाक्यों के घृणित अर्थ करने का खेद है अर्थात् इन वाक्यों के अर्थ माता का दूसरा पति तथा भगिनी का यार करके वेदों को कलङ्कित किया गया है, वेदों के ऐसे २ अश्लील अर्थ सहस्रों विद्यार्थियों के हृदय में अंकित होजाते हैं कि वेदों में इस प्रकार की अश्लील बातें भरी पड़ी हैं जो धर्म के सर्वथा विरुद्ध हैं।

इसी उक्त आशय को "मातापितरमृत आवभाज" ऋग्० १। १६४। ८ मन्त्र में यों वर्णन किया है कि माता = सम्पूर्ण पदार्थों को निर्माण करने वाली प्रकृति ने ऋते = संसारोत्पत्ति रूप यज्ञ के लिये पितरस्थानीय द्युलोक को आवभाज = विभक्त किया अर्थात् प्रकृति के महत्तत्वादि कार्यों द्वारा इस द्युलोक की उत्पत्ति हुई, यदि यह अर्थ किये जायं कि माता ने पिता को उत्पन्न किया, यह अर्थ कुछ संगत नहीं किन्तु सत्यार्थ यही हैं कि मान करने वाली प्रकृति ने इस द्युलोक को कार्य्यावस्था में परिणत किया, माता के अर्थ यहां जननी के नहीं किन्तु निर्मात्री के हैं उसी निर्मात्री का दिधिषु = धारण करने वाला यहां सूर्य्य कथन किया गया है और "स्वसुर्जार:" के अर्थ उषा को निवृत्त करने वाले के हैं सो सूर्य्य वास्तव में उषा काल को दूर करता है, जिन लोगों ने "स्वसृ" शब्द के अर्थ केवल भगिनि के ही समझे हैं अन्य अर्थ नहीं जानते वह अत्यन्त भूल में हैं वेद में इसके अनेकार्थ हैं और सूर्य्य की किरणों के अर्थों में तो "स्वसृ" शब्द बहुधा वेद में आता है, जैसाकि "सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम" ऋग्०१।१६४।३ इस मन्त्र में वर्णन किया है, जब इस

मन्त्र को यज्ञपक्ष में लगाया जाता है तो अर्थ यह होते हैं कि यज्ञ में बाणियों के सातो नाम विभक्तियों को मिलाकर सप्तस्वसार = स्वयं शरणरूप स्वरों से मन्त्र पढ़े जाते हैं और यह ज्ञानरूप यज्ञ गवां = इन्द्रियों को शुद्ध करता है, अस्तु-कोई इस मन्त्र को कालरूप रथ में लगाता है, कोई सूर्य्य की सप्त किरणों को सप्तस्वसार कहता है, और कोई इस शरीर को रथ मानकर इन्द्रियों के सप्त छिद्रों को स्वसार कहता है, इस प्रकार इस मन्त्र के अर्थों में मतभेद होने पर भी कोई टीका-कार "स्वसार" शब्द के अर्थ भगिनी नहीं करता, इससे सिद्ध है कि वेद में "स्वसार" शब्द उषा वा सूर्य्य की किरणों के लिये भी आता है, इसीलिये "स्वसुर्यो जार उच्यते" ऋग्० ६ । ५५ । ४ इत्यादि मन्त्रों में सूर्य्य को स्वसृ = उषा के मिटा देने वाला कथन किया गया है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि "मातुर्दिधिषु" तथा "स्वसुर्जारः" शब्दों से जो उक्त दोष उत्पन्न होता है अर्थात् माता तथा भगिनी की ओर बुरा भाव पाया जाता है, ऐसा अलंकार वेद में क्यों दिया गया ? इसका उत्तर यह है कि हम उक्त मन्त्र के अर्थ अलङ्कार की रीति से नहीं करते, अन्य किसी मन्त्र में उषा वा पृथिवी को माता वा भगिनी वर्णन नहीं किया किन्तु उषा को शरणशील होने से "स्वसा" कहा गया है, एवं मापने वाली होने के कारण "माता" कहा है, यहां माता शब्द जननी के अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुआ, एवं कृष्णादि नाम भी वंशावली रूप से वेद में कहीं नहीं आये।

वास्तव में यदि दिव्यदृष्टि से देखाजाय तो वेदमन्त्रों के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं (१) कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनके

अर्थ इस ब्रह्माण्ड के सूर्य्य चन्द्रमादि आधिदैविक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं (२) कुछेक मन्त्र ऐसे हैं जो मनुष्यों के गुण कर्म स्वभाव को वर्णन करते हैं जिनको आधिभौतिक कहते हैं (३) जो केवल आत्मा को लक्ष्य रखकर एकमात्र चेतन शक्ति के गुण कर्म स्वभाव को कथन करते हैं उनको आध्यात्मिक कहा जाता है, इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने कहा है कि "परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्चमन्त्राभूयिष्ठाअल्पश आध्यात्मिकाः" निरुक्त दैवत काण्ड० ७ । ३ १ = जिनका फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है वह शिल्पविद्या वा आध्यात्मिक विद्या के मन्त्र हैं, इसी प्रकार "सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा" ऋग्० १ । १६४ । २ इत्यादि मन्त्रों में सात कला वाले उस रथ का वर्णन है जो आकाश में विमानरूप से उड़ाया जाता था और उसके चलाने के लिये घुमाने वाले चक्र के समान एक चक्र लगाया जाता था जिसके वर्णन में उन सात कलों का नाम सप्तस्वसार है अर्थात् जो सात कलें स्वयं वेगशील होकर उस रथ को चलाती थीं उनको "सप्तस्वसार" नाम से वर्णन किया गया है, इसी प्रकार वेद में इन्द्र भी उपास्य देव मानागया है जिसका वर्णन पीछे कर आये हैं, मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वेद में कोई अनुचित अलंकार वा व्यवहार नहीं और न किसी व्यक्तिविशेष का वर्णन वा नाम है, और जो इतिहास का वर्णन है वह केवल विद्या का इतिहास है, जैसाकि पूर्वोक्त मन्त्र में शिल्प विद्या का इतिहास स्पष्ट रूप से वर्णित है जिसको कोई भी अस्वीकार नहीं करसकता, अधिक क्या वेद इस विराट पुरुष की विविध विद्याओं से भरापड़ा है और इसका पूर्ण इतिहास भी वेद में ह " इति ह पूर्ववृत्तमास्ते यस्मिन स इति-

हासः" = जिसमें पूर्व का वृत्तान्त लिखा हो उसको "इतिहास" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार हमने इस ग्रन्थ का नाम "वैदिककाल का इतिहास" रखा है, जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय का भलेप्रकार वर्णन है॥

अब आगे निःश्रेयस="मुक्ति" का निरूपण करते हुए यह दर्शाते हैं कि जिन लोगों का यह कथन है कि मुक्ति जैसे गहन विषयों का वर्णन वेद में स्पष्ट रीति से नहीं, उनके लिये यह उत्तर है कि "य इमा विश्वाभुवनानि" ऋग्० १०।८१।१ इस मन्त्र में स्पष्ट रीति से वर्णन किया है कि जिसने इन सम्पूर्ण भुवनों को रचा है वही प्रथमसृष्टि में मुक्त पुरुषों को इस संसार में उत्पन्न करता है।

और जिन लोगों को यह सन्देह है कि वेद में केवल अपराविद्या = सांसारिक तत्वों की विद्या ही है पराविद्या नहीं अर्थात् जिसप्रकार गीता तथा उपनिषदों में जीव के भेदाभेद का विचार किया गया है कि जीव ईश्वर का भेद है वा अभेद, इस प्रकार वेद के किसी स्थल में भी आध्यात्मिक विचार नहीं किया गया? इस प्रश्न का उत्तर हम सामान्यरूप से पीछे दे आये हैं और कई एक मन्त्रों पर आध्यात्मिक अर्थों में सायणाचार्य्य का भाष्य भी उद्धृत कर आये हैं परन्तु यहां विशेषरूप से वेदों में आध्यात्मिक विद्या दर्शाते हुए सर्वोपरि पराविद्या के भाण्डाररूप मुक्ति का वर्णन करते हैं, ऋग्० १।१६४।२० में मुक्ति विषयक वर्णन किया गया है, और इसी स्थल में जीव की भेदाभेद फ़िलासफी का भी वर्णन विस्तारपूर्वक है कि जीव ईश्वर का मुक्ति में भेद रहता है वा दोनों एक होजाते हैं? इसका उत्तर

इस मन्त्र में यह दिया है कि " ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश " ऋग्० १० । ६२ । १ = जो पुरुष ब्रह्मज्ञानरूप यज्ञ से परमात्मा की प्रेममयी भक्ति नामक दक्षिणा से संगत होते हैं वह इन्द्रस्य = परमात्मा की सख्यं=तद्धर्मतापत्तिरूप मैत्री जो अमृतत्व = मुक्ति है उसको आनश = प्राप्त होते हैं, इस प्रकार मुक्ति अवस्था में भी जीव ब्रह्म का भेद बना रहता है अभेद नहीं होता।

और "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया" ऋग्० १ । १६४ । २० इस मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य ने भी अपने उपाधिकृत भेद का खण्डन किया है, प्रश्न यह था कि जीव ब्रह्म का भेद है वा अभेद ? इसका उत्तर इस मन्त्र में दो पक्षियों का दृष्टान्त देकर स्पष्ट रीति से जीव तथा ब्रह्म का भेद माना है कि दोनों भिन्न २ हैं अर्थात् जीव कर्मकर्त्ता और परमात्मा फलप्रदाता है तो फिर जीव ब्रह्म की एकता कैसे होसकती है ? इसका उत्तर यह दिया है कि उपाधि से भेद माना गया है वास्तव में अभेद ही है, क्योंकि दोनों का एक जैसा प्रकाश है, यह कथन सर्वथा असङ्गत है, सूर्य्य और दीपक दोनों प्रकाशक होने से अंधकार के निवर्तक होने पर भी दोनों एक कदापि नहीं, इसी प्रकार प्रकाशमात्र से जीव ब्रह्म का अभेद कदापि नहीं होसकता, यदि यह कहाजाय कि प्रकाश अंश में तो दोनों एक हैं अर्थात् सूर्य्य की नभोमण्डलवर्ती उपाधि और दीपक की खद्योतकल्प परिच्छिन्न उपाधि को छोड़कर प्रकाशमात्र में दोनों एक हैं, इसको मायावादी "भागत्यागलक्षणा" कहते हैं अर्थात् घोड़े का घोड़ापन और गर्दभ का गधापन त्यागकर दोनों एक हैं, ऐसे निर्मूल विचारों का वेद इस प्रकार तिरस्कार करता है कि

"न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति" ऋग्० ३ । ५३ । २३ = तत्ववेत्ता पुरुष घोड़े के स्थान में गधे को नहीं ले आता वह भेदाभेद का अवश्य पूर्ण विचार रखता है, इसी प्रकार जीव-ईश्वर का भेद जो पूर्व मन्त्र में स्पष्ट वर्णन किया गया है उसको सायणाचार्य्य वा स्वामी शङ्कराचार्य्य नहीं हटा सकते, जैसाकि उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है कि "तस्माद्वस्तुत एक एव भेदस्तु मोहकृतः"=वास्तव में जीव ब्रह्म का अभेद है भेद तो केवल मोह से उत्पन्न हुआ है, यदि लौकिकन्याय से देखा जाय तो मोह से अभेद होता है भेद नहीं, भेद तो उदासीनता वा वैराग्य से होता है, हम इनकी इन शिथिल तर्कों के निराकरण से अपने ग्रंथ को विस्तृत नहीं करते, जब उक्त मन्त्र ने स्पष्ट रीति से यह वर्णन कर दिया कि जीव शुभाशुभकर्मों के फलों का भोक्ता और ईश्वर केवल साक्षी है तो फिर भेद कैसे नहीं, अन्य युक्ति यह है कि सायणाचार्य्य ने निरुक्त० १४ । ३० । १७ का प्रमाण लिखकर यह कहा है कि इस मन्त्र की व्याख्या निरुक्त में देखो परन्तु वहां पर तो सच्चा भेद सिद्ध किया है फिर मिथ्याभेद की क्या कथा ।

और बात यह है कि जो ऋग्० १ । १६४ । २१–२३ मन्त्रों के "अमृतत्वमानशुः" तथा "अमृतस्य भागम्" इत्यादि वाक्यों में मुक्ति विषय को लिखा है वह मुक्ति क्या है ? कोई कहता है कि मुक्ति ब्रह्मभाव है अर्थात् जीव ज्यों का त्यों ब्रह्म बनजाता है और प्रमाण यह दिया जाता है कि "ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" बृहदा० ४।४।६ = जीव मुक्ति में ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म हो होजाता है, कोई कहता है कि जैसे जल शुद्ध जल में मिलकर तदाकार होजाता है इसी प्रकार जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर ब्रह्म ही होजाता है, किसी का कथन है कि "आनन्दं ब्रह्मणो

विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" = जीव मुक्ति में ब्रह्म के आनन्द को अनुभव करता हुआ किसी से भय नहीं करता, किसी का कथन है कि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" गी० ४। ३७ = जब ज्ञानरूप अग्नि से सब पूर्वकृत कर्म भस्मीभूत होजाते हैं फिर पुरुष मुक्त होजाता है, परन्तु मधुसूदन स्वामी तथा हिन्दूधर्म के कई आचार्य्य उक्त श्लोक के यह अर्थ करते हैं कि सम्पूर्ण कर्म नाश नहीं होते किन्तु प्रारब्ध कर्म बने रहते हैं, अस्तु—कुछ हो एवं भिन्न २ प्रकार की अवस्था का नाम मुक्ति है, ब्रह्म में लीन होजाना वा ब्रह्म बनजानारूप मुक्ति मानने वालों का हम कई स्थलों में खण्डन करचुके हैं परन्तु केवल किसी का मत खण्डन करने से तत्वप्राप्ति वा स्वमत की सिद्धि नहीं होती, अतएव हम वैदिकमुक्ति का वर्णन करते हैं कि वेदों में जो वास्तव मुक्ति मानी गई है वह क्या है ? इसका उत्तर इस अग्रिम् मन्त्र में यह दिया है कि "जगत्याहितं पदं य इत् तत् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः" ऋग्० १। १६४। २० = जो इस चराचर जगत् के अणु२ में व्यापक परमात्मा का साक्षात्कार करलेता है वही मुक्तिपद के आनन्द को भोगता है, इस कथन ने यह भाव स्पष्ट करदिया कि परमात्मा के साक्षात्कार से भिन्न अन्य कोई मुक्ति का पद नहीं, इसी पद का वर्णन "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" यजु० ३१। १८ मन्त्र में किया गया है कि केवल उसी परमात्मा के साक्षात्कार से मुक्ति होती है।

यह वह पद है जिसको प्राप्त कर ब्राह्मण इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति का तृणवत् तिरस्कार करदेते थे, यह वह पद है जिसको पाकर जीव जीवित ही अशरीरी = शरीर के बन्धनों

से रहित होजाता और इसी पद को पाकर नित्यमुक्त = जीवन-मुक्त कहलाता है।

अब विचारणीय विषय यह है कि जीव इस पद को प्राप्त कर पुनः इस अभ्युदयरूप संसार को प्राप्त होता है वा नहीं? इसका निर्णय वेद भगवान् ने ही स्वयं कर दिया है कि :—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होतान्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥

ऋ० । १० । ८१ । १

प्रथमच्छत् = जो पुरुष प्रथम रक्षा किये गये अर्थात् पुण्यात्मा पुरुष जो इस सर्ग से प्रथम सर्ग में मुक्त हुए उनको आशिषा = अपनी अपार दया से अभ्युदयरूप ऐश्वर्य्य की इच्छमान = इच्छा करता हुआ परमात्मा अवरान् = अपने से भिन्न जीवों के आविवेश = शरीररूप करणसंघात को रचकर उसमें स्वयं भी प्रविष्ट हुआ अर्थात् व्याप्य व्यापक सम्बन्ध वा अंतर्यामीरूप से उनमें स्थिर हुआ, इसी भाव को मायावादी यों वर्णन करते हैं कि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" तैत्ति० ८। ६ = वह संसार को रचकर स्वयं जीवरूप से प्रविष्ट हुआ, यदि इस उपनिषद्वाक्य के यही अर्थ ठीक माने जायं तो नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप परमात्मा ही जीव बना, इस प्रकार भी मुक्ति से पुनरावृत्ति=लौट आना मानना ही पड़ा, अस्तु—उक्त मन्त्र के "अवरान्" तथा "आविवेश" शब्दों ने स्पष्ट प्रकार से जीवों को ईश्वर से भिन्न सिद्ध कर दिया जिसमें सन्देह का अवकाश नहीं, और ईश्वर का जीवों में प्रवेश करना शरीर की रचना के भाव से माना गया है।

और बात यह है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति मायावादियों को तो अवश्य माननी पड़ती है, क्योंकि उनके मत में एक ब्रह्म से ही नाना प्रकार के जीव बनते हैं, जैसाकि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय, नाम रूपे व्याकरवाणि" छान्दो० ६।२।३ में वर्णन किया है कि ब्रह्म अपनी इच्छानुसार जगत् को रचकर नाना भावों में परिणत होगया, इसमें कई एक लोग यह आशंका करेंगे कि मायावादी वेदान्ती लोग ब्रह्म का परिणाम नहीं मानते परन्तु हमारे विचार में मानते हैं, जैसाकि ब्र० सू० स्मृतिपाद शं० भा० में लिखा है कि "तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणः विचित्रशक्तिः योगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते" = एक ही ब्रह्म विचित्र शक्ति वाली माया के योग से दूध से दधि के समान परिणाम को प्राप्त होजाता है, अस्तु-परिणाम ब्रह्म का हो वा माया का हो परन्तु मुक्तस्वभाव ब्रह्म जब जीव बनकर संसार में आगया तो मुक्ति से आने रूप पुनरावृत्ति हुई अर्थात् मुक्त ब्रह्म फिर लौटकर जन्मा, अधिक क्या, मुक्ति से पुनरावृत्ति मुख से न मानने वाले और स्वसिद्धान्त द्वारा मानने वाले मायावादी वेदान्ती मुक्तस्वभाव ब्रह्म द्वारा सृष्टि रचना मानने से पुनरावृत्ति मानते और अवतारवादी मुक्त पुरुषों के ही अवतार मानते हैं अर्थात् कृष्णजी मुक्त होने पर भी यह कहते हैं कि "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" गी० ४।५ = हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं, फिर इसके क्या अर्थ कि "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" गी० १५।६ = जिसको प्राप्त होकर पुनरावृत्ति नहीं होती वह मेरा धाम = स्थान है, जब अपने धाम वाला ही यह कहता है कि मेरे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं तो फिर अन्य मुक्त पुरुष के जन्म न होंगे इसका क्या प्रमाण ?

केवल अवतारवादी और मायावादी ही मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते किन्तु विशिष्टाद्वैतवादी भी "भोगसाम्यलिङ्गाच्च" ब्र० सू० ४ । ४ १७ के श्रीभाष्य में मुक्त कण्ठ से यह मानते हैं कि मुक्तपुरुष भी ईश्वर के राज्य में रहता है और ईश्वर उस को सुपात्र समझकर उसके द्वारा अपना ज्ञान संसार में भेजना चाहे तो क्या आपत्ति ? हमारे विचार में कोई आपत्ति नहीं ।

हमें अन्य वादियों के मतों से क्या अर्थात् वह कुछ ही मानते हों परन्तु निम्नलिखित तर्कों से पुनरावृत्ति = मुक्ति से लौटना स्पष्ट प्रतीत होता है ।

(१)—संख्यात पदार्थ में से कुछ २ निकलता रहे तो वह अनन्त समय में कभी न कभी अवश्य समाप्त हो जाता है अर्थात् यदि एक कल्प में एक २ भी मुक्त हो तो आज तक सम्पूर्ण जीवों का अन्त होगया होता पर ऐसा न होने से जान पड़ता है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती रहती है तभी संसार का यह प्रवाह चल रहा है, अन्यथा जब वैदिक सिद्धान्त में नूतन जीव उत्पन्न नहीं होते तो फिर आज तक संसार कैसे बना रहा ।

(२)—जब मुक्ति सादि है तो फिर अनन्त कैसे ? क्योंकि कोई आद वाला पदार्थ अन्तरहित नहीं देखा जाता ।

(३)—जब मुक्ति एक अवस्था है स्वरूप नहीं तो फिर नित्य कैसे, क्योंकि यदि मुक्ति जीव का स्वरूप होती तो फिर जीव बीच में बन्धन में कैसे फस जाता ।

(४)—जगत् में कोई अनादि पदार्थ ऐसा नहीं जिसकी कोई दशा उस पर पहले पहल आई हो, जैसे अनादि परमाणु अनेक वार द्विणुकादि क्रम से जगत्रूप बन चुके हैं, और ईश्वर भी संसार की अनेकवार उत्पत्ति तथा संहार करचुका

है, जैसाकि "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" ऋग्० १० । १९० । ३ इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट है, फिर जीव को अचानक पहले पहल मुक्ति कैसे मिली, यदि इससे भी प्रथम जीव कभी मुक्त होचुका था तो पुनरावृत्ति बलात्कार से सिद्ध होगई ।

(५)—जब समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा प्रलयकालीन प्रकृतिलय इत्यादि सब अवस्थायें जीव की अनित्य हैं तो फिर मुक्ति नित्य कैसे ।

(६)—वैदिकमत में मुक्ति का स्वरूप एक प्रकार के ऐश्वर्य्य की प्राप्ति है और वह कर्मजन्य है, वह कर्म चाहे ईश्वर का साक्षात्काररूप हो अथवा सदाचाररूप हो, जैसाकिः—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

मुण्ड० २ । २ । ८

इस वाक्य में वर्णन किया है कि पर = कारण और अवर = कार्य्य, इन दोनों से जो परे हो उसका नाम "परावर" = ब्रह्म है, ऐसे ब्रह्म के दृष्टे = साक्षात्कार करने पर हृदय की ग्रन्थि = गांठ, भिद्यते = खुलजाती और सब संशय निवृत्त होजाते हैं, इस वाक्य में भी दर्शनात्मक एक प्रकार का कर्म ही हुआ, इसी अभिप्राय से छान्दोग्योपनिषद् में यह लिखा है कि "एवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, नचपुनरावर्त्तते—नचपुनरावर्त्तते" छान्दो० ८ । १५ । १ = एवं = इस प्रकार वर्तने पर अर्थात् गुरुकुलादिकों में नियमपूर्वक वास करने तथा आध्यात्मिक नियमों के सेवन करने से पुरुष यावदायुष = आयु पर्य्यन्त ब्रह्म के आनन्द को भोगता है,

नचपुनरावर्त्तते = फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् नियतकाल तक मुक्ति में रहता है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त प्रकार के शुभकर्म करने वाला पुरुष बारंबार जन्म मरण के प्रवाह में नहीं पड़ता किन्तु ऋषि मुनियों के जन्मसदृश उत्तम जन्म भोगकर पुनः शीघ्र ही मुक्त होजाता है, आवृत्ति का यहां यही तात्पर्य्य है और इसी आशय को "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिःशब्दात्" ब्र० सू० ४।४।२२ में कथन किया है कि अनावृत्ति = फिर उसको बार२ आवृत्ति करनी नहीं पड़ती "अनावृत्ति" शब्द दोबार ग्रन्थ की समाप्ति के लिये आया है और यही रीति उक्त छान्दोग्य वाक्य में थी अर्थात् वहां भी "नच पुनरावर्त्तते" दो वार ग्रन्थ की समाप्ति के लिये आया है, अस्तु—ग्रन्थविस्तारभय से उक्त छान्दोग्य वाक्य वा ब्रह्मसूत्र की विशेष व्याख्या नहीं कीगई, इनका विशेषरूप से व्याख्यान "छान्दोग्यार्य्यभाष्य" तथा "वेदान्तार्य्य-भाष्य" में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वेद में मुक्ति जैसे सूक्ष्म विषय भी वर्णित हैं जो वहीं से उक्त ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं फिर वेद को केवल अपराविद्या का पुस्तक बताना सर्वथा भूल है, अधिक क्या "उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्" ऋग्० ७ । ५९ । १२ इत्यादि मन्त्रों में यह प्रार्थना कीगई है कि हे परमात्मन्! आप मुझे उर्वारुक = पके हुए खरबूजे के फल समान मृत्यु के बन्धन से छुड़ाकर अमृतात् = मुक्ति से मत छुड़ावें, इस मन्त्र में यह प्रार्थना किया जाना भी मुक्ति से पुनरावृत्ति सिद्ध करता है।

इस स्थल में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" इस न्याय के अनुसार यहां कोई विषय

ऐसा प्राप्त है जिससे छूटने की इच्छा जीव की प्रार्थना में कथन कीगई है अर्थात् जैसे जीव को त्रिविध दुःख प्राप्त थे उनसे छूटने के अभिप्राय से यह कथन किया गया है कि "अथ त्रिविधदुःखाऽत्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" सांख्य० १। १। २ = आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक, यह तीनों दुःख जीव के जन्म में जैसे अवर्जनीय हैं और उनसे छूटने की प्रार्थना है इसी प्रकार अमृत भी अनित्य होने के कारण उससे छूटने की आशङ्का थी, अतएव उससे बचने के लिये प्रार्थना कीगई है।

अन्य प्रमाण यह है कि "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि" ऋग्० १० । १२९ । २ = महाप्रलयकाल में न मृत्यु और न अमृत = मुक्ति थी, यदि यहां "अमृत" पद से मुक्ति लीजाय तो उक्त मन्त्र में मृत्यु के समान मुक्ति का भी अभाव कथन किया गया है, जब मुक्ति नित्य थी तो वेद ने अभाव क्यों कथन किया? इसका उत्तर कई एक लोग यह देते हैं कि यहां मृत्यु की सन्निधि से अमृत का अर्थ जीवन है कि उस समय न मृत्यु और न जीवन था, यदि मृत्यु का प्रतिद्वन्दी = प्रतियोगी वा विरोधी यहां अमृत शब्द से जीवन लियाजाय तो उक्त मन्त्रगत "मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्" इस पद से यह अर्थ कैसे लिये जासकते हैं कि अमृत = मुक्ति से मत पृथक् कर, हमारे विचार में उक्त दोनों मन्त्रों के मृत्यु तथा अमृत पद से संसारवर्ग और अपवर्ग ही गृहीत होता है अर्थात् मृत्यु से संसारवर्ग तथा अमृत से अपवर्ग का ग्रहण है, और सायणभाष्य में "मृत्योर्मुक्षीय मामृतात" इस वाक्यगत "अमृत" पद से मुक्ति ही ली है, और "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि" इस मन्त्र गत मृत्यु पद से "मरना" और अमृत पद से "न मरना" लिया है सो

ठीक नहीं, क्योंकि वेद में जहां २ अमृत पद आया है वहां सर्वत्र मुक्ति का ही ग्रहण है अर्थात् अमृत पद के अर्थ वेद में सर्वत्र मुक्ति के हैं, मुक्ति, अपवर्ग, निःश्रेयस तथा कैवल्य यह सब पर्यायवाची शब्द हैं, इन नामों में से उक्त मन्त्रों के भाष्य में सायणाचार्य्य ने कोई भी नहीं लिया, अधिक क्या, ऋग्० १। सू० २३ में मुक्त पुरुषों में से बहुतों की यह प्रार्थना पाई जाती है कि हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि हम फिर अपने माता पिता को देखें, एवं अन्यत्र भी इस विशाल ब्रह्माण्ड में शरीरधारी होकर पुनः संसार में आने की अनेक प्रकार की प्रार्थनायें वेद में वर्णित हैं जिनका उल्लेख यहां विस्तारभय से नहीं किया गया।

यहां यह आशङ्का अवश्य होगी कि जब मुक्ति में भी इच्छा तथा संकल्प विकल्पादि बने रहे तो फिर मुक्ति क्या ? इसका उत्तर यह है कि वैदिकधर्म में ऐश्वर्य्यप्राप्ति का नाम मुक्ति वा अमृत है केवल दुःखों के अभाव का नाम मुक्ति नहीं, परन्तु कई एक नवीन सम्प्रदायी दुःखों के ध्वंस का नाम ही मुक्ति मानते हैं, मायावादी वेदान्ति यह मानते हैं कि "विमुक्तश्च विमुच्यते" कठ० ५। १ = मुक्त हुआ ही फिर मुक्त होता है अर्थात् मुक्ति में कोई नई वस्तु प्राप्त नहीं होती किन्तु स्वरूप प्राप्ति वा नित्यप्राप्त की प्राप्ति ही मुक्ति है, या यों कहो कि कारण सहित अविद्या = अनर्थ की निवृत्ति और नित्य प्राप्त स्व स्वरूप की प्राप्ति का नाम मुक्ति है, इस सिद्धान्त में यह अवश्य कहा जासकता है कि जो अनर्थ की निवृत्ति है वह प्रध्वंसाभाव होने से सादि अनन्त है अर्थात् फिर उसका अन्त नहीं होगा और जीव का स्वरूप नित्य होने से उस नित्य का निवृत्ति भी नहीं होसकती ? इसका उत्तर यह है कि

जब जीव का स्वरूप नित्य प्राप्त था तो वह बन्धन में आकर अप्राप्त कैसे होगया अर्थात् ब्रह्म की इच्छा से हुआ वा स्वयं ही ब्रह्म जीव बना, हमारे बिचार में जो एक बार बन्धन में आगया वह फिर भी अवश्य आवेगा, इसका उत्तर मुक्ति पद को नित्य मानने वालों के पास कुछ भी नहीं, और जो लोग सांख्य वा योग की प्रक्रिया के अनुसार यह मानते हैं कि जब प्रतिप्रसव = उलटे क्रम से प्राकृत बुद्ध्यादि सब भाव प्रकृति में लय होगये और जीव की अपने स्वरूप में स्थिति होगई जिसका नाम स्वरूपप्रतिष्ठा है और लिङ्गशरीर जो देहान्तर की प्राप्ति कराता है उसका प्रकृति में लय होगया तो फिर पुनरावृत्ति कैसे? इसका उत्तर यह है कि प्रकृति ने जब जीव को उक्त लयता से प्रथम बन्धन में डाला था तभी तो नवीन लिङ्गशरीर की उत्पत्ति मानी गई और तभी जीव देह के बन्धन में पड़ा, इसी प्रकार फिर लिङ्गशरीर उत्पन्न न होगा इसका क्या प्रमाण? वैदिकसिद्धान्त में तो लिङ्गशरीर वा मनोमयादि कोष जीव के स्वरूपभूत हैं, क्योंकि वह मुक्ति में भी रहते हैं और इन्हीं मनोमयादि भावों से जीव मुक्ति के ऐश्वर्य्य को भोगता और उस ऐश्वर्य्य को भोगकर फिर लौट आता है, इस भाव को "उभयाय जन्मने" ऋग्० १०। ३७। ६ मन्त्र में यों वर्णन किया है कि हमारा दोनों जन्मों में कल्याण हो अर्थात् मुक्ति के पश्चात् फिर होने वाले जन्म के लिये भी कल्याण की प्रार्थना की है, इससे सिद्ध है कि जन्म और मुक्ति का प्रवाह अनादिकाल से पाया जाता है, और जो यह वर्णन किया है कि जो एक बार संसार में आगया वह फिर ईश्वर के इस मंगलमय ब्रह्माण्ड का दर्शन न करेगा, इस विषय में कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं।

और जब अवतारवादियों के मत में साक्षात् ईश्वर तथा ब्रह्मवादियों के मत में साक्षात् ब्रह्म इस संसार की संसृति को चाहता है तो फिर मुक्त जीव को ही यह क्यों अनुचित प्रतीत हुआ, ज्ञात होता है कि बौद्धों के निर्वाण वाद के अनन्तर जितने ग्रन्थ बने हैं उनमें यह ऐश्वर्य्यग्लानि का भाव भरा है आर्षग्रन्थों में कहीं नहीं, आर्षग्रन्थों में सर्वत्र मुक्ति से पुनरावृत्ति का विधान पाया जाता है, जैसाकि "परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इत्यादि वाक्य लिखकर पीछे भलेप्रकार समर्थन कर आये हैं कि मुक्त पुरुष मुक्ति का ऐश्वर्य्य भोगकर परान्तकाल = कल्पान्तर के पीछे फिर लौट आता है, ऋग्० १० । ३७ । ६ मन्त्र में जो "उभयायं जन्मने" कथन किया है वह जन्मजन्मान्तरों का उपलक्षण है केवल एक जन्म का कथन नहीं करता अर्थात् मुक्ति के पश्चात् फिर मेरा जन्म हो, अधिक क्या वेदों में जन्म की प्रार्थना तो कई स्थलों में पाई जाती है परन्तु जन्माभाव = भविष्य में मेरा जन्म न हो, ऐसा कथन वेदों में कहीं नहीं मिलता, इससे सिद्ध है कि उद्योग से उत्क्रान्ति अर्थात् अभ्युदयरूप उत्क्रान्ति का अभाव शून्यवादी बौद्धों के प्रचार से वैदिक-धर्मानुयायी हिन्दुओं में जन्म से घृणा करने का विचार उत्पन्न होगया वरन् आर्य्य लोग जन्मजन्मान्तरों में अभ्युदय = सांसारिक ऐश्वर्य्य प्राप्त करने को मुख्य समझते थे इसी कारण वेदों में सर्वत्र पाया जाता है कि हे परमात्मन् ! आप मृत्यु के आक्रमण से हमारी रक्षा करें, और वेद में जहां २ मृत्यु शब्द आया है वहां सर्वत्र सहिष्णुता द्वारा उससे बचने का उपाय वर्णन किया है, जैसाकि अथर्व० ११ । ३ । ५ में वर्णन किया है कि:—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥

देवा = विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य्यरूप तप से मृत्यु का अतिक्रमण करजाते और इन्द्र = सम्राट् = राजा लोग ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से ही अपने धर्म का संरक्षण करते हुए विद्वानों के लिये अपने देश को स्वर्गधाम बनाते हैं, ब्रह्मचर्य्य में दो अंश हैं (१) वेदाध्ययन से ज्ञान द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करना, (२) तप = इन्द्रियसंयम द्वारा मृत्यु से बचना, इससे पाया जाता है कि जिन पुरुषों में उच्च कक्षा का आध्यात्मिकभाव पाया जाता है वह नित्यमुक्त = मृत्यु से बचे हुए हैं, मृत्यु से बचना, दुःख से बचना वा सदा सुखी रहना, इत्यादि भावों की प्रार्थनायें वेद में अनेकधा पाई जाती हैं, जैसाकि " मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्य्यमुच्चरन्तम्" ऋग्० १० । ५९ । ४ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि हे परमात्मन् ! मैं मृत्यु से बचकर नित्य चढ़ते सूर्य्य को देखूं अर्थात् सदैव उच्चकाल को ही देखता रहूं, परन्तु जन्म से छूटने की प्रार्थना वेद के किसी स्थल में भी नहीं ।

और जो कई एक अल्पश्रुत यह लिखते हैं कि वेद में जो "शुनःशेप" की प्रार्थना है वह पुनर्जन्म विषयक है मुक्ति से पुनरावृत्ति सिद्ध नहीं करती, उनका यह कथन सर्वथा युक्तिशून्य है, पुनर्जन्म तो मुक्ति से पुनरावृत्ति का मुख्य विषय है, क्योंकि पुनर्जन्म के विना मुक्ति से पुनरावृत्ति कदापि नहीं होसकती, और जो यह कहा जाता है कि यह बद्ध जीव की प्रार्थना है मुक्त की नहीं तो बद्ध जीव तो प्रथम ही माता, पिता, भाई, बहिन आदि के बन्धन से बन्धा हुआ था फिर उसने यह प्रार्थना क्यों की कि "पितरं च दृशेयं मातरं च"

ऋग्० १।२३।२ = मैं माता पिता का पुनः दर्शन करूं, यदि यह कहाजाय कि बद्धजीव ही फिर और उत्तम माता पिता को प्राप्त होना चाहता है तो फिर इसी मंत्र के इस वाक्य में यह प्रार्थना क्यों की कि "स नो मह्या अदितये पुनर्दात्" = वह परमात्मा मुझको महती विस्तृत क्षेत्र वाली पृथिवी के लिये दे अर्थात् पृथिवी पर जन्म दे, क्या बद्ध जीव कहीं इस भूमण्डल के कारागार से अन्यत्र बन्धा हुआ था, अधिक क्या, ऐसे मोहजनक लेख वह लोग ही लिखते हैं जिनको स्वयं तो वेदों पर श्रद्धा नहीं और अन्यों को भी मोहजाल में फंसा कर पतित करना चाहते हैं, या यों कहो कि सायणादि भाष्यकारों को आतङ्क उनके हृदय में अंकित होरहा है इसलिये वह ऐसा मानते हैं कि "शुनःशेप" कोई पुरुषविशेष यज्ञ में बलिदान के लिये बांधा गया था उसकी यह प्रार्थना है, यह कथन सर्वथा असङ्गत है, जिसका खण्डन हम नरमेध में भली भांति कर आये हैं।

अन्य युक्ति जो उक्त प्रकार के भ्रमोत्पादक लेख लिखने वाले अल्पश्रुत लोगों ने दी है कि "शुनः शेप" में "शेप" शब्द मनुष्य के "गुह्येन्द्रिय" का नाम है, यह अनर्थ इतना बड़ा है कि जिसका कोई प्रायश्चित ही नहीं, क्योंकि "शेप" शब्द यदि अश्लीलार्थवाची होता तो "शिपीविष्टः" शब्द के अर्थ भी शेप जैसे मुख वाले के होते-परन्तु वास्तव में इसके अर्थ प्रकाशयुक्त मुख के हैं, इस विषय में लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि निरुक्तकार ने स्वयं यह व्याख्या की है कि "शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः" नैगम काण्ड० ५।८ = उदयकाल के सूर्य्य का नाम यहां "शेप" है, जिसका अर्थ बिगाड़ कर अनर्थ किया गया है, इसी प्रकार

"अश्वो वोल्हा" ऋग्० ८। ११२। ४ यह मंत्र भी मुक्ति विषयक है जिसका अर्थ बिगाड़ा गया है, क्योंकि इससे उत्तर इस विषय को इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि "यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्" ऋग्० ८। ११३। ७ = जहां निरन्तर प्रकाश है और जहां आनन्द ही आनन्द है उसका नाम यहां "मुक्ति" है, भला "शेप" के अर्थ गुप्तेन्द्रिय करना यहां क्या शोभा देता है, यहां तो साधारण बुद्धि वाला भी समझ सकता है अर्थात् "सैन्धव मानय" के समान प्रकरण का विचार अवश्य करना चाहिये था, सैन्धव नाम नमक तथा घोड़े का है परन्तु पाकशाला में भोजनार्थ बैठे हुए पुरुष के लिये योग्यतानुसार नमक ही लाना ठीक है न कि घोड़ा, एवं गाली गाने का प्रकरण होता तो शेप के अर्थ लिङ्गपुराण वाले करलिये जाते तो कोई क्षति न थी पर मुक्ति विषय में ऐसे अर्थ करके अपनी स्वव्यक्ति को कलङ्कित करना है।

इस मुक्ति विषय को हमने गीतार्य्यभाष्य--वेदान्तार्य्यभाष्य-योगार्य्यभाष्य-मीमांसार्य्यभाष्य--उपनिषदार्य्यभाष्य और "ऋग्वेदभाष्य" के कई स्थलों में विशदरूप से लिखा है और वहां इस विषय को पुष्ट प्रमाणों से स्फुट किया है, विशेषाभिलाषी उक्त ग्रन्थों के उन२ स्थलों को देखें, यहां अधिक पिष्टपेषण करना उचित न समझकर इतना लिखना ही पर्याप्त प्रतीत होता है॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिना निर्मिते वैदिक-
कालिके इतिहासे. अभ्युदय तथा
निःश्रेयस निरूपणं नाम
षष्ठाऽध्यायः